॥ श्रीहरिः ॥ 422

कर्म-रहस्य

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

वर्तमान समयमें 'कर्म' सम्बन्धी कई भ्रम लोगोंमें फैले हुए हैं। इसलिये इसको समझनेकी वर्तमानमें बड़ी आवश्यकता है। हमारे परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजने श्रीमद्भगवद्गीताकी 'साधक-संजीवनी' हिन्दी-टीकामें इसका बड़े सुन्दर और सरल ढंगसे विवेचन किया है। उसीको इस पुस्तकके रूपमें अलगसे प्रकाशित किया जा रहा है। प्रत्येक भाई-बहनको यह पुस्तक स्वयं भी पढ़नी चाहिये तथा दूसरोंको भी पढ़नेके लिये प्रेरित करना चाहिये। इस पुस्तकके पढ़नेसे कर्मसे सम्बन्धित अनेक शंकाओंका समाधान हो सकता है।

—प्रकाशक

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कर्म-रहस्य

पुरुष और प्रकृति—ये दो हैं। इनमेंसे पुरुषमें कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति कभी परिवर्तनरहित नहीं होती। जब यह पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब प्रकृतिकी क्रिया पुरुषका 'कर्म' बन जाती है; क्योंकि प्रकृतिके साथ सम्बन्ध माननेसे तादात्म्य हो जाता है। तादात्म्य होनेसे जो प्राकृत वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनमें ममता होती है और उस ममताके कारण अप्राप्त वस्तुओंकी कामना होती है। इस प्रकार जबतक कामना, ममता और तादात्म्य रहता है, तबतक जो कुछ परिवर्तनरूप क्रिया होती है, उसका नाम 'कर्म' है।

तादात्म्यके टूटनेपर वही कर्म पुरुषके लिये 'अकर्म' हो जाता है अर्थात् वह कर्म क्रियामात्र रह जाता है, उसमें फलजनकता नहीं रहती—यह 'कर्ममें अकर्म' है। अकर्म-अवस्थामें अर्थात् स्वरूपका अनुभव होनेपर उस महापुरुषके शरीरसे जो क्रिया होती रहती है, वह 'अकर्ममें कर्म' है।* तात्पर्य यह हुआ कि अपने निर्लिप्त स्वरूपका अनुभव न होनेपर भी वास्तवमें सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्य शरीरमें होती हैं; परन्तु प्रकृति या शरीरसे अपनी पृथक्ताका अनुभव न होनेसे वे क्रियाएँ 'कर्म'

---

* कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (गीता ४। १८)

बन जाती हैं।*

कर्म तीन तरहके होते हैं—क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध। अभी वर्तमानमें जो कर्म किये जाते हैं, वे 'क्रियमाण' कर्म कहलाते हैं।† वर्तमानसे पहले इस जन्ममें किये हुए अथवा पहलेके अनेक मनुष्यजन्मोंमें किये हुए जो कर्म संगृहीत हैं, वे 'सञ्चित' कर्म कहलाते हैं। सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये प्रस्तुत (उन्मुख) हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें परिणत होनेके लिये सामने आ गये हैं, वे 'प्रारब्ध' कर्म कहलाते हैं।
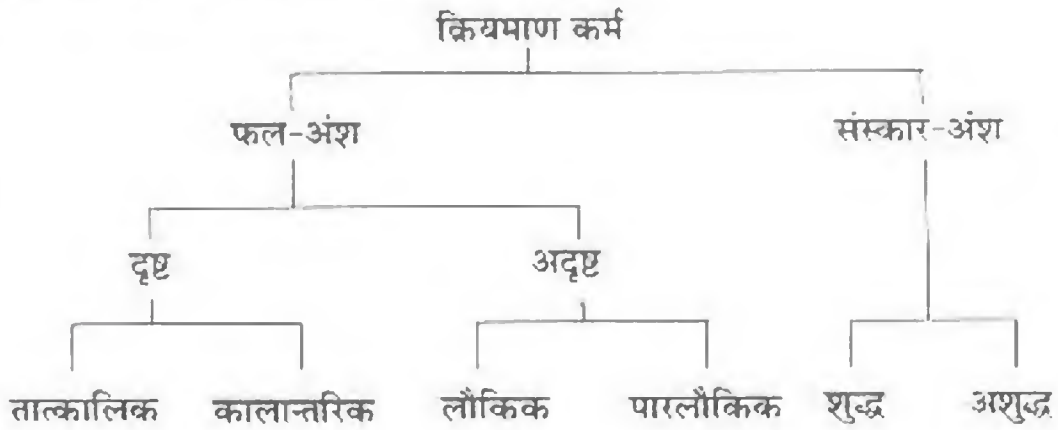
क्रियमाण कर्म दो तरहके होते हैं—शुभ और अशुभ। जो कर्म शास्त्रानुसार विधि-विधानसे किये जाते हैं, वे शुभ कर्म

---

* प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (गीता १३। २९)

† जो भी नये कर्म और उनके संस्कार बनते हैं, वे सब केवल मनुष्यजन्ममें ही बनते हैं (गीता ४। १२; १५। २), पशु-पक्षी आदि योनियोंमें नहीं; क्योंकि वे योनियाँ केवल कर्मफल-भोगके लिये ही मिलती हैं।

कहलाते हैं और काम, क्रोध, लोभ, आसक्ति आदिको लेकर जो शास्त्र-निषिद्ध कर्म किये जाते हैं, वे अशुभ कर्म कहलाते हैं।

शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक क्रियमाण कर्मका एक तो फल-अंश बनता है और एक संस्कार-अंश। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

क्रियमाण कर्मके फल-अंशके दो भेद हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमेंसे दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक जैसे, भोजन करते हुए जो रस आता है, सुख होता है, प्रसन्नता होती है और तृप्ति होती है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और भोजनके परिणाममें आयु, बल, आरोग्य आदिका बढ़ना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है। ऐसे ही जिसका अधिक मिर्च खानेका स्वभाव है, वह जब अधिक मिर्चवाले पदार्थ खाता है, तब उसको प्रसन्नता होती है, सुख होता है और मिर्चकी तीक्ष्णताके कारण मुँहमें, जीभमें जलन होती है, आँखोंसे और नाकसे पानी निकलता है, सिरसे पसीना निकलता है—यह दृष्टका 'तात्कालिक' फल है और कुपथ्यके कारण परिणाममें पेटमें जलन और रोग, दुःख आदिका होना—यह दृष्टका 'कालान्तरिक' फल है।

इसी प्रकार अदृष्टके भी दो भेद होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। जीते-जी ही फल मिल जाय—इस भावसे यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, मन्त्र-जप आदि शुभ कर्मोंको विधि-विधानसे किया जाय और उसका कोई प्रबल प्रतिबन्ध न हो तो यहाँ ही पुत्र, धन, यश, प्रतिष्ठा आदि अनुकूलकी प्राप्ति होना और रोग, निर्धनता आदि प्रतिकूलकी निवृत्ति होना—यह अदृष्टका

'लौकिक' फल है* और मरनेके बाद स्वर्ग आदिकी प्राप्ति हो जाय—इस भावसे यथार्थ विधि-विधान और श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक जो यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म किये जायँ तो मरनेके बाद स्वर्ग आदि लोकोंकी प्राप्ति होना—यह अदृष्टका 'पारलौकिक' फल है। ऐसे ही डाका डालने, चोरी करने, मनुष्यकी हत्या करने आदि अशुभ कर्मोंका फल यहाँ ही कैद, जुर्माना, फाँसी आदि होना—यह अदृष्टका 'लौकिक' फल है और पापोंके कारण मरनेके बाद नरकोंमें जाना और पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि बनना—यह अदृष्टका 'पारलौकिक' फल है।

पाप-पुण्यके इस लौकिक और पारलौकिक फलके विषयमें एक बात और समझनेकी है कि जिन पापकर्मोंका फल यहीं कैद, जुर्माना, अपमान, निन्दा आदिके रूपमें भोग लिया है, उन पापोंका फल मरनेके बाद भोगना नहीं पड़ेगा। परन्तु व्यक्तिके पाप कितनी मात्राके थे और उनका भोग कितनी मात्रामें हुआ अर्थात् उन पाप-कर्मोंका फल उसने पूरा भोगा या अधूरा भोगा—इसका पूरा पता मनुष्यको नहीं लगता; क्योंकि मनुष्यके पास इसका कोई माप-तौल नहीं है। परन्तु भगवान्‌को इसका पूरा पता है; अतः उनके कानूनके अनुसार उन पापोंका फल यहाँ जितने अंशमें कम भोगा गया है, उतना इस जन्ममें या मरनेके बाद भोगना ही पड़ेगा। इसलिये मनुष्यको ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये कि मेरा

---

* यहाँ दृष्टका 'कालान्तरिक' फल और अदृष्टका 'लौकिक' फल—दोनों फल एक समान ही दीखते हैं, फिर भी दोनोंमें अन्तर है। जो 'कालान्तरिक' फल है, वह सीधे मिलता है, प्रारब्ध बनकर नहीं; परन्तु जो 'लौकिक' फल है, वह प्रारब्ध बनकर ही मिलता है।

पाप तो कम था पर दण्ड अधिक भोगना पड़ा अथवा मैंने पाप तो किया नहीं पर दण्ड मुझे मिल गया! कारण कि यह सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, सर्वसमर्थ भगवान्‌का विधान है कि पापसे अधिक दण्ड कोई नहीं भोगता और जो दण्ड मिलता है, वह किसी-न-किसी पापका ही फल होता है।*

---

* एक सुनी हुई घटना है। किसी गाँवमें एक सज्जन रहते थे। उनके घरके सामने एक सुनारका घर था। सुनारके पास सोना आता रहता था और वह गढ़कर देता रहता था। ऐसे वह पैसे कमाता था। एक दिन उसके पास अधिक सोना जमा हो गया। रात्रिमें पहरा लगानेवाले सिपाहीको इस बातका पता लग गया। उस पहरेदारने रात्रिमें उस सुनारको मार दिया और जिस बक्सेमें सोना था, उसे उठाकर चल दिया। इसी बीच सामने रहनेवाले सज्जन लघुशङ्काके लिये उठकर बाहर आये। उन्होंने पहरेदारको पकड़ लिया कि तू इस बक्सेको कैसे ले जा रहा है? तो पहरेदारने कहा—'तू चुप रह, हल्ला मत कर। इसमेंसे कुछ तू ले ले और कुछ मैं ले लूँ।' सज्जन बोले—'मैं कैसे ले लूँ? मैं चोर थोड़े ही हूँ!' पहरेदारने कहा—'देख, तू समझ जा, मेरी बात मान ले, नहीं तो दुःख पायेगा।' पर वे सज्जन माने नहीं। तब पहरेदारने बक्सा नीचे रख दिया और उस सज्जनको पकड़कर जोरसे सीटी बजा दी। सीटी सुनते ही और जगह पहरा लगानेवाले सिपाही दौड़कर वहाँ आ गये। उसने सबसे कहा कि 'यह इस घरसे बक्सा लेकर आया है और मैंने इसको पकड़ लिया है।' तब सिपाहियोंने घरमें घुसकर देखा कि सुनार मरा पड़ा है। उन्होंने उस सज्जनको पकड़ लिया और राजकीय आदमियोंके हवाले कर दिया। जजके सामने बहस हुई तो उस सज्जनने कहा कि 'मैंने नहीं मारा है, उस पहरेदार सिपाहीने मारा है।' सब सिपाही आपसमें मिले हुए थे, उन्होंने कहा कि 'नहीं इसीने मारा है, हमने खुद रात्रिमें इसे पकड़ा है,' इत्यादि।

मुकदमा चला। चलते-चलते अन्तमें उस सज्जनके लिये फाँसीका हुक्म हुआ। फाँसीका हुक्म होते ही उस सज्जनके मुखसे निकला—'देखो, सरासर अन्याय हो रहा है! भगवान्‌के दरबारमें कोई न्याय नहीं! मैंने मारा नहीं, मुझे दण्ड हो और जिसने मारा है, वह बेदाग छूट जाय, जुर्माना भी नहीं; यह अन्याय है!' जजपर उसके वचनोंका असर पड़ा कि वास्तवमें यह सच्चा बोल रहा है, इसकी किसी तरहसे जाँच होनी चाहिये। ऐसा विचार करके उस जजने एक षड्यन्त्र रचा।

सुबह होते ही एक आदमी रोता-चिल्लाता हुआ आया और बोला—'हमारे भाईकी हत्या हो गयी, सरकार! इसकी जाँच होनी चाहिये।' तब जजने उसी सिपाहीको और कैदी सज्जनको मरे व्यक्तिकी लाश उठाकर लानेके लिये भेजा। दोनों उस आदमीके साथ वहाँ गये, जहाँ लाश पड़ी थी। खाटपर लाशके ऊपर कपड़ा बिछा था। खून बिखरा पड़ा था। दोनोंने उस खाटको उठाया और उठाकर ले चले। साथका दूसरा आदमी खबर देनेके बहाने दौड़कर आगे चला गया। तब चलते-चलते सिपाहीने कैदीसे कहा—'देख, उस दिन तू मेरी बात मान लेता तो सोना मिल जाता और फाँसी भी नहीं होती, अब देख लिया सच्चाईका फल?' कैदीने कहा—'मैंने तो अपना काम सच्चाईका ही किया था, फाँसी हो गयी तो हो गयी! हत्या की तूने और दण्ड भोगना पड़ा मेरेको! भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं!'

खाटपर झूठमूठ मरे हुएके समान पड़ा हुआ आदमी उन दोनोंकी बातें सुन रहा था। जब जजके सामने खाट रखी गयी तो खूनभरे कपड़ेको हटाकर वह उठ खड़ा हुआ और उसने सारी बात जजको बता दी कि रास्तेमें सिपाही यह बोला और कैदी यह बोला। यह सुनकर जजको बड़ा आश्चर्य हुआ। सिपाही भी हक्का-बक्का रह गया। सिपाहीको पकड़कर कैद कर लिया गया। परन्तु जजके मनमें सन्तोष नहीं हुआ। उसने कैदीको एकान्तमें बुलाकर कहा कि 'इस मामलेमें तो मैं तुम्हें निर्दोष मानता हूँ पर सच-सच बताओ कि इस जन्ममें तुमने कोई हत्या की है क्या?' वह बोला—बहुत पहलेकी घटना है। एक दुष्ट था, जो छिपकर मेरे घर मेरी स्त्रीके पास आया करता था। मैंने अपनी स्त्रीको तथा उसको अलग-अलग खूब समझाया पर वह माना नहीं। एक रात वह घरपर था और अचानक मैं आ गया। मेरेको गुस्सा आया हुआ था। मैंने तलवारसे उसका गला काट दिया और घरके पीछे जो नदी है, उसमें फेंक दिया। इस घटनाका किसीको पता नहीं लगा। यह सुनकर जज बोला—'तुम्हारेको इस समय फाँसी होगी ही; मैंने भी सोचा कि मैंने किसीसे घूस (रिश्वत) नहीं खायी, कभी बेईमानी नहीं की, फिर मेरे हाथसे इसके लिये फाँसीका हुक्म लिखा कैसे गया? अब सन्तोष हुआ। उसी पापका फल तुम्हें यह भोगना पड़ेगा। सिपाहीको अलग फाँसी होगी।'

[उस सज्जनने चोर सिपाहीको पकड़कर अपने कर्तव्यका पालन किया था। फिर उसको जो दण्ड मिला है, वह उसके कर्तव्य-पालनका फल नहीं है, प्रत्युत उसने बहुत पहले जो हत्या की थी, उस हत्याका फल है। कारण कि मनुष्यको अपनी रक्षा करनेका अधिकार है, मारनेका अधिकार नहीं। मारनेका अधिकार रक्षक क्षत्रियका, राजाका है। अतः कर्तव्यका पालन करनेके कारण उस पाप-(हत्या-) का फल उसको यहीं मिल गया और परलोकके भयंकर दण्डसे उसका छुटकारा हो गया। कारण कि इस लोकमें जो दण्ड भोग लिया जाता है, उसका थोड़ेमें ही छुटकारा हो जाता है, थोड़ेमें ही शुद्धि हो जाती है, नहीं तो परलोकमें बड़ा भयंकर (ब्याजसहित) दण्ड भोगना पड़ता है।]

इस कहानीसे यह पता लगता है कि मनुष्यके कब किये हुए पापका फल कब मिलेगा—इसका कुछ पता नहीं। भगवान्‌का विधान विचित्र है। जबतक पुराने पुण्य प्रबल रहते हैं तबतक उग्र पापका फल भी तत्काल नहीं मिलता। जब पुराने पुण्य खत्म होते हैं, तब उस पापकी बारी आती है। पापका फल (दण्ड) तो भोगना ही पड़ता है, चाहे इस जन्ममें भोगना पड़े या जन्मान्तरमें।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

इसी तरह धन-सम्पत्ति, मान, आदर, प्रशंसा, नीरोगता आदि अनुकूल परिस्थितिके रूपमें पुण्य-कर्मोंका जितना फल यहाँ भोग

लिया है, उतना अंश तो यहाँ नष्ट हो ही गया और जितना बाकी रह गया है, वह परलोकमें फिर भोगा जा सकता है। यदि पुण्य-कर्मोंका पूरा फल यहीं भोग लिया गया है तो पुण्य यहींपर समाप्त हो जायँगे।

क्रियमाण-कर्मके संस्कार-अंशके भी दो भेद हैं—शुद्ध एवं पवित्र संस्कार और अशुद्ध एवं अपवित्र संस्कार। शास्त्रविहित कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे शुद्ध एवं पवित्र होते हैं और शास्त्र, नीति, लोकमर्यादाके विरुद्ध कर्म करनेसे जो संस्कार पड़ते हैं, वे अशुद्ध एवं अपवित्र होते हैं।

इन दोनों शुद्ध और अशुद्ध संस्कारोंको लेकर स्वभाव (प्रकृति, आदत) बनता है। उन संस्कारोंमेंसे अशुद्ध अंशका सर्वथा नाश करनेपर स्वभाव शुद्ध, निर्मल, पवित्र हो जाता है; परन्तु जिन पूर्वकृत कर्मोंसे स्वभाव बना है, उन कर्मोंकी भिन्नताके

कारण जीवन्मुक्त पुरुषोंके स्वभावोंमें भी भिन्नता रहती है। इन विभिन्न स्वभावोंके कारण ही उनके द्वारा विभिन्न कर्म होते हैं पर वे कर्म दोषी नहीं होते, प्रत्युत सर्वथा शुद्ध होते हैं और उन कर्मोंसे दुनियाका कल्याण होता है।

संस्कार-अंशसे जो स्वभाव बनता है, वह एक दृष्टिसे महान् प्रबल होता है—**'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'** अतः उसे मिटाया नहीं जा सकता।* इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, उसमें कर्म करनेकी मुख्यता रहती है। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि जिस कर्मको तू मोहवश नहीं करना चाहता, उसको भी अपने स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा (गीता १८। ६०)।

अब इसमें विचार करनेकी एक बात है कि एक ओर तो स्वभावकी महान् प्रबलता है कि उसको कोई छोड़ ही नहीं सकता और दूसरी ओर मनुष्य-जन्मके उद्योगकी महान् प्रबलता है कि मनुष्य सब कुछ करनेमें स्वतन्त्र है। अतः इन दोनोंमें किसकी विजय होगी और किसकी पराजय होगी ? इसमें विजय-पराजयकी बात नहीं है। अपनी-अपनी जगह दोनों ही प्रबल हैं। परन्तु यहाँ

---

* व्याघ्रस्तुष्यति कानने सुगहनं सिंहो गुहां सेवते
हंसो वाञ्छति पद्मिनीं कुसुमितां गृध्रः श्मशाने स्थले।
साधुः सत्कृतिसाधुमेव भजते नीचोऽपि नीचं जनं
या यस्य प्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते॥

'व्याघ्र घने वनमें संतुष्ट रहता है, सिंह गहन गुफाका सेवन करता है, हंस खिली हुई कमलिनीको चाहता है, गीध श्मशान-भूमिमें रहना पसंद करता है, सज्जन पुरुष अच्छे आचरणोंवाले सज्जन पुरुषोंमें और नीच पुरुष नीच लोगोंमें ही रहना चाहते हैं। सच है, स्वभावसे पैदा हुई जिसकी जैसी प्रकृति है, उस प्रकृतिको कोई नहीं छोड़ता।'

स्वभाव न छोड़नेकी जो बात है, वह जाति-विशेषके स्वभावकी बात है। तात्पर्य है कि जीव जिस वर्णमें जन्मा है, जैसा रज-वीर्य था, उसके अनुसार बना हुआ जो स्वभाव है, उसको कोई बदल नहीं सकता; अतः वह स्वभाव दोषी नहीं है, निर्दोष है। जैसे, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णोंका जो स्वभाव है, वह स्वभाव नहीं बदल सकता और उसको बदलनेकी आवश्यकता भी नहीं है तथा उसको बदलनेके लिये शास्त्र भी नहीं कहता। परन्तु उस स्वभावमें जो अशुद्ध-अंश (राग-द्वेष) है, उसको मिटानेकी सामर्थ्य भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। अतः जिन दोषोंसे मनुष्यका स्वभाव अशुद्ध बना है, उन दोषोंको मिटाकर मनुष्य स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने स्वभावको शुद्ध बना सकता है। मनुष्य चाहे तो कर्मयोगकी दृष्टिसे अपने प्रयत्नसे राग-द्वेषको मिटाकर स्वभाव शुद्ध बना ले*, चाहे भक्तियोगकी दृष्टिसे सर्वथा भगवान्‌के शरण होकर अपना स्वभाव शुद्ध बना ले†। इस प्रकार प्रकृति-(स्वभाव-) की प्रबलता भी सिद्ध हो गयी और मनुष्यकी स्वतन्त्रता भी सिद्ध हो गयी। तात्पर्य यह हुआ कि शुद्ध स्वभावको रखनेमें प्रकृतिकी प्रबलता है और अशुद्ध स्वभावको मिटानेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है।

जैसे, लोहेकी तलवारको पारस छुआ दिया जाय तो तलवार सोना बन जाती है; परन्तु उसकी मार, धार और आकार—ये

---

* इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३। ३४)

† तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (गीता १८। ६२)

तीनों नहीं बदलते। इस प्रकार सोना बनानेमें पारसकी प्रधानता रही और 'मार-धार-आकार' में तलवारकी प्रधानता रही। ऐसे ही जिन लोगोंने अपने स्वभावको परम शुद्ध बना लिया है, उनके कर्म भी सर्वथा शुद्ध होते हैं। परन्तु स्वभावके शुद्ध होनेपर भी वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, साधन-पद्धति, मान्यता आदिके अनुसार आपसमें उनके कर्मोंकी भिन्नता रहती है। जैसे, किसी ब्राह्मणको तत्त्वबोध हो जानेपर भी वह खान-पान आदिमें पवित्रता रखेगा और अपने हाथसे बनाया हुआ भोजन ही ग्रहण करेगा; क्योंकि उसके स्वभावमें पवित्रता है। परन्तु किसी हरिजन आदि साधारण वर्णवालेको तत्त्वबोध हो जाय तो वह खान-पान आदिमें पवित्रता नहीं रखेगा और दूसरोंकी जूठन भी खा लेगा; क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा पड़ा हुआ है। पर ऐसा स्वभाव उसके लिये दोषी नहीं होगा।

जीवका असत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेका स्वभाव अनादि-कालसे बना हुआ है, जिसके कारण वह जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ है और बार-बार ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है। उस स्वभावको मनुष्य शुद्ध कर सकता है अर्थात् उसमें जो कामना, ममता और तादात्म्य हैं, उनको मिटा सकता है। कामना, ममता और तादात्म्यके मिटनेके बाद जो स्वभाव रहता है, वह स्वभाव दोषी नहीं रहता। इसलिये उस स्वभावको मिटाना नहीं है और मिटानेकी आवश्यकता भी नहीं है।

जब मनुष्य अहंकारका आश्रय छोड़कर सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जाता है, तब उसका स्वभाव शुद्ध हो जाता है; जैसे—लोहा पारसके स्पर्शसे शुद्ध सोना बन जाता है। स्वभाव शुद्ध होनेसे फिर वह स्वभावज कर्म करते हुए भी दोषी और पापी

नहीं बनता (गीता १८।४७)। सर्वथा भगवान्‌के शरण होनेके बाद भक्तका प्रकृतिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फिर भक्तके जीवनमें भगवान्‌का स्वभाव काम करता है। भगवान् समस्त प्राणियोंके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५।२९) तो भक्त भी समस्त प्राणियोंका सुहृद् हो जाता है—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भा॰ ३।२५।२१)।

इसी तरह कर्मयोगकी दृष्टिसे जब मनुष्य राग-द्वेषको मिटा देता है, तब उसके स्वभावकी शुद्धि हो जाती है, जिससे अपने स्वार्थका भाव मिटकर केवल दुनियाके हितका भाव स्वतः हो जाता है। जैसे भगवान्‌का स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका है, ऐसे ही उसका स्वभाव भी प्राणिमात्रका हित करनेका हो जाता है। जब उसकी सब चेष्टाएँ प्राणिमात्रके हितमें हो जाती हैं, तब उसकी भगवान्‌की सर्वभूतसुहृत्ता-शक्तिके साथ एकता हो जाती है। उसके उस स्वभावमें भगवान्‌की सुहृत्ता-शक्ति कार्य करने लगती है।

वास्तवमें भगवान्‌की वह सर्वभूतसुहृत्ता-शक्ति मनुष्यमात्रके लिये समान रीतिसे खुली हुई है; परन्तु अपने अहंकार और राग-द्वेषके कारण उस शक्तिमें बाधा लग जाती है अर्थात् वह शक्ति कार्य नहीं करती। महापुरुषोंमें अहंकार (व्यक्तित्व) और राग-द्वेष नहीं रहते, इसलिये उनमें यह शक्ति कार्य करने लग जाती है।

सञ्चित कर्म

फल-अंश — प्रारब्ध

संस्कार-अंश — स्फुरणा

अनेक मनुष्य-जन्मोंमें किये हुए जो कर्म (फल-अंश और संस्कार-अंश) अन्तःकरणमें संगृहीत रहते हैं, वे सञ्चित कर्म कहलाते हैं। उनमें फल-अंशसे तो 'प्रारब्ध' बनता है और संस्कार-अंशसे 'स्फुरणा' होती रहती है। उन स्फुरणाओंमें भी वर्तमानमें किये गये जो नये क्रियमाण कर्म सञ्चितमें भरती हुए हैं, प्रायः उनकी ही स्फुरणा होती है। कभी-कभी सञ्चितमें भरती हुए पुराने कर्मोंकी भी स्फुरणा भी हो जाती है।* जैसे—किसी बर्तनमें पहले प्याज डाल दें और उसके ऊपर क्रमशः गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, डाल दें तो निकालते समय जो सबसे पीछे डाला था, वही (बाजरा) सबसे पहले निकलेगा, पर बीचमें कभी-कभी प्याजका भी भभका आ जायेगा। परन्तु यह दृष्टान्त पूरा नहीं घटता; क्योंकि प्याज, गेहूँ आदि सावयव पदार्थ हैं और सञ्चित कर्म निरवयव हैं। यह दृष्टान्त केवल इतने ही अंशमें बतानेके लिये दिया है कि नये क्रियमाण कर्मोंकी स्फुरणा ज्यादा होती है और कभी-कभी पुराने कर्मोंकी भी स्फुरणा होती है।

इसी तरह जब नींद आती है तो उसमें भी स्फुरणा होती है।

---

* स्फुरणा सञ्चितके अनुसार भी होती है और प्रारब्धके अनुसार भी। सञ्चितके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं करती। परन्तु सञ्चितकी स्फुरणामें भी यदि राग-द्वेष हो जायँ तो वह 'संकल्प' बनकर मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य कर सकती है। प्रारब्धके अनुसार जो स्फुरणा होती है, वह (फल-भोग करानेके लिये) मनुष्यको कर्म करनेके लिये बाध्य करती है; परन्तु वह विहित कर्म करनेके लिये ही बाध्य करती है, निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं। कारण कि विवेकप्रधान मनुष्यशरीर निषिद्ध कर्म करनेके लिये नहीं है। अतः अपनी विवेकशक्तिको प्रबल करके निषिद्धका त्याग करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर है और ऐसा करनेमें वह स्वतन्त्र है।

नींदमें जाग्रत्-अवस्थाके दब जानेके कारण सञ्चितकी वह स्फुरणा स्वप्नरूपसे दीखने लग जाती है, उसीको स्वप्नावस्था कहते हैं।* स्वप्नावस्थामें बुद्धिकी सावधानी न रहनेके कारण क्रम, व्यतिक्रम और अनुक्रम ये नहीं रहते। जैसे, शहर तो दिल्लीका दीखता है और बाजार बम्बईका तथा उस बाजारमें दूकानें कलकत्ताकी दीखती हैं, कोई जीवित आदमी दीख जाता है अथवा किसी मरे हुए आदमीसे मिलना हो जाता है, बातचीत हो जाती है, आदि आदि।

जाग्रत्-अवस्थामें हरेक मनुष्यके मनमें अनेक तरहकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं। जब जाग्रत्-अवस्थामें शरीर, इन्द्रियाँ

---

* जाग्रत्-अवस्थामें भी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाएँ होती हैं; जैसे मनुष्य जाग्रत्-अवस्थामें बड़ी सावधानीसे काम करता है तो यह जाग्रत्में जाग्रत्-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें मनुष्य जिस कामको करता है, उस कामके अलावा अचानक जो दूसरी स्फुरणा होने लगती है, वह जाग्रत्में स्वप्न-अवस्था है। जाग्रत्-अवस्थामें कभी-कभी काम करते हुए भी उस कामकी तथा पूर्वकर्मोंकी कोई भी स्फुरणा नहीं होती, बिलकुल वृत्ति-रहित अवस्था हो जाती है, वह जाग्रत्में सुषुप्ति-अवस्था है।

कर्म करनेका वेग ज्यादा रहनेसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् और स्वप्न-अवस्था तो ज्यादा होती है पर सुषुप्ति-अवस्था बहुत थोड़ी होती है। अगर कोई साधक जाग्रत्की स्वाभाविक सुषुप्तिको स्थायी बना ले तो उसका साधन बहुत तेज हो जायगा; क्योंकि जाग्रत्-सुषुप्तिमें साधकका परमात्माके साथ निरावरणरूपसे स्वतः सम्बन्ध होता है। ऐसे तो सुषुप्ति-अवस्थामें भी संसारका सम्बन्ध टूट जाता है; परंतु बुद्धि-वृत्ति अज्ञानमें लीन हो जानेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। जाग्रत्-सुषुप्तिमें बुद्धि जाग्रत् रहनेसे स्वरूपका स्पष्ट अनुभव होता है।

यह जाग्रत्-सुषुप्ति समाधिसे भी विलक्षण है; क्योंकि यह स्वतः होती है और समाधिमें अभ्यासके द्वारा वृत्तियोंको एकाग्र तथा निरुद्ध करना पड़ता है। इसलिये समाधिमें पुरुषार्थ साथमें रहनेके कारण शरीरमें स्थिति होती है; परन्तु जाग्रत्-सुषुप्तिमें अभ्यास और अहंकारके बिना वृत्तियाँ स्वतः निरुद्ध होनेके कारण स्वरूपमें स्थिति होती है अर्थात् स्वरूपका अनुभव होता है।

और मनपरसे बुद्धिका अधिकार हट जाता है, तब मनुष्य जैसा मनमें आता है, वैसा बोलने लगता है। इस तरह उचित-अनुचितका विचार करनेकी शक्ति काम न करनेसे वह 'सीधा-सरल पागल' कहलाता है। परन्तु जिसके शरीर, इन्द्रियाँ और मनपर बुद्धिका अधिकार रहता है, वह जो उचित समझता है, वही बोलता है और जो अनुचित समझता है, वह नहीं बोलता। बुद्धि सावधान रहनेसे वह सावचेत रहता है, इसलिये वह 'चतुर पागल' है !

इस प्रकार मनुष्य जबतक परमात्मप्राप्ति नहीं कर लेता, तबतक वह अपनेको स्फुरणाओंसे बचा नहीं सकता। परमात्म-प्राप्ति होनेपर बुरी स्फुरणाएँ सर्वथा मिट जाती हैं। इसलिये जीवन्मुक्त महापुरुषके मनमें अपवित्र बुरे विचार कभी आते ही नहीं। अगर उसके कहलानेवाले शरीरमें प्रारब्धवश (व्याधि आदि किसी कारणवश) कभी बेहोशी, उन्माद आदि हो जाता है तो उसमें भी वह न तो शास्त्रनिषिद्ध बोलता है और न शास्त्र-निषिद्ध कुछ करता ही है; क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे शास्त्रनिषिद्ध बोलना या करना उसके स्वभावमें नहीं रहता।

सञ्चितमेंसे जो कर्म फल देनेके लिये सम्मुख होते हैं, उन कर्मोंको प्रारब्ध कर्म कहते हैं।* प्रारब्ध कर्मोंका फल तो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आता है; परन्तु उन प्रारब्ध कर्मोंको भोगनेके लिये प्राणियोंकी प्रवृत्ति तीन प्रकारसे होती है—(१) स्वेच्छापूर्वक, (२) अनिच्छा-(दैवेच्छा-)पूर्वक और (३) परेच्छापूर्वक। उदाहरणार्थ—

(१) किसी व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें मुनाफा हो गया। ऐसे ही किसी दूसरे व्यापारीने माल खरीदा तो उसमें घाटा लग गया। इन दोनोंमें मुनाफा होना और घाटा लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु माल खरीदनेमें उनकी प्रवृत्ति स्वेच्छापूर्वक हुई है।

(२) कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो आगे आनेवाली नदीमें बाढ़के प्रवाहके कारण एक धनका टोकरा बहकर आया और उस सज्जनने उसे निकाल लिया। ऐसे ही कोई सज्जन कहीं जा रहा था तो उसपर वृक्षकी एक टहनी गिर पड़ी और उसको चोट लग गयी। इन दोनोंमें धनका मिलना और चोट लगना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु धनका टोकरा मिलना और वृक्षकी टहनी गिरना—यह प्रवृत्ति अनिच्छा-(दैवेच्छा-)पूर्वक हुई है।

(३) किसी धनी व्यक्तिने किसी बच्चेको गोद ले लिया अर्थात् उसको पुत्र-रूपमें स्वीकार कर लिया, जिससे उसका सब

---

* 'प्रकर्षेण आरब्धः प्रारब्धः' अर्थात् अच्छी तरहसे फल देनेके लिये जिसका आरम्भ हो चुका है, वह 'प्रारब्ध' है।

धन उस बच्चेको मिल गया। ऐसे ही चोरोंने किसीका सब धन लूट लिया। इन दोनोंमें बच्चेको धन मिलना और चोरीमें धनका चला जाना तो उनके शुभ-अशुभ कर्मोंसे बने हुए प्रारब्धके फल हैं; परन्तु गोदमें जाना और चोरी होना—यह प्रवृत्ति परेच्छापूर्वक हुई है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये कि कर्मोंका फल 'कर्म' नहीं होता, प्रत्युत 'परिस्थिति' होती है अर्थात् प्रारब्ध कर्मोंका फल परिस्थितिरूपसे सामने आता है। अगर नये (क्रियमाण) कर्मको प्रारब्धका फल मान लिया जाय तो फिर 'ऐसा करो, ऐसा मत करो'— यह शास्त्रोंका, गुरुजनोंका विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। दूसरी बात, पहले जैसे कर्म किये थे, उन्हींके अनुसार जन्म होगा और उन्हींके अनुसार कर्म होंगे तो वे कर्म फिर आगे नये कर्म पैदा कर देंगे, जिससे यह कर्म-परम्परा चलती ही रहेगी अर्थात् इसका कभी अन्त ही नहीं आयेगा।

प्रारब्ध कर्मसे मिलनेवाले फलके दो भेद हैं—प्राप्त फल और अप्राप्त फल। अभी प्राणियोंके सामने जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आ रही है, वह 'प्राप्त' फल है और इसी जन्ममें जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्यमें आनेवाली है वह 'अप्राप्त' फल है।

क्रियमाण कर्मोंका जो फल-अंश सञ्चितमें जमा रहता है, वही प्रारब्ध बनकर अनुकूल, प्रतिकूल और मिश्रित परिस्थितिके रूपमें मनुष्यके सामने आता है। अतः जबतक सञ्चित कर्म रहते हैं, तबतक प्रारब्ध बनता ही रहता है और प्रारब्ध परिस्थितिके रूपमें परिणत होता ही रहता है। यह परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी होनेके लिये बाध्य नहीं करती। सुखी-दुःखी होनेमें तो

परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ना ही मुख्य कारण है। परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ने अथवा न जोड़नेमें यह मनुष्य सर्वथा स्वाधीन है, पराधीन नहीं है। जो परिवर्तनशील परिस्थितिके साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, वह अविवेकी पुरुष तो सुखी-दुःखी होता ही रहता है। परन्तु जो परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं मानता, वह विवेकी पुरुष कभी सुखी-दुःखी नहीं होता; अतः उसकी स्थिति स्वतः साम्यावस्थामें होती है, जो कि उसका स्वरूप है।

कर्मोंमें मनुष्यके प्रारब्धकी प्रधानता है या पुरुषार्थकी? अथवा प्रारब्ध बलवान् है या पुरुषार्थ?—इस विषयमें बहुत-सी शङ्काएँ हुआ करती हैं। उनके समाधानके लिये पहले यह समझ लेना जरूरी है कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ क्या है?

मनुष्यमें चार तरहकी चाहना हुआ करती है—एक धनकी, दूसरी धर्मकी, तीसरी भोगकी और चौथी मुक्तिकी। प्रचलित भाषामें इन्हीं चारोंको अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके नामसे कहा जाता है—

(१) **अर्थ**—धनको 'अर्थ' कहते हैं। वह धन दो तरहका होता है—स्थावर और जङ्गम। सोना, चाँदी, रुपये, जमीन, जायदाद, मकान आदि स्थावर हैं और गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, भेड़, बकरी आदि जङ्गम हैं।

(२) **धर्म**—सकाम अथवा निष्कामभावसे जो यज्ञ, तप, दान, व्रत, तीर्थ आदि किये जाते हैं, उसको 'धर्म' कहते हैं।

(३) **काम**—सांसारिक सुख-भोगको 'काम' कहते हैं। वह सुखभोग आठ तरहका होता है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस,

गन्ध, मान, बड़ाई और आराम।

(क) शब्द—शब्द दो तरहका होता है—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। व्याकरण, कोश, साहित्य, उपन्यास, गल्प, कहानी आदि 'वर्णात्मक' शब्द हैं।* खाल, तार और फूँकके तीन बाजे और तालका आधा बाजा—ये साढ़े तीन प्रकारके बाजे 'ध्वन्यात्मक' शब्दको प्रकट करनेवाले हैं।† इन वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दोंको सुननेसे जो सुख मिलता है, वह शब्दका सुख है।

(ख) स्पर्श—स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके साथ मिलनेसे तथा ठण्डा, गरम, कोमल आदिसे अर्थात् उनका त्वचाके साथ संयोग होनेसे जो सुख होता है, वह स्पर्शका सुख है।

(ग) रूप—नेत्रोंसे खेल, तमाशा, सिनेमा, बाजीगरी, वन, पहाड़, सरोवर, मकान आदिकी सुन्दरताको देखकर जो सुख होता है, वह रूपका सुख है।

(घ) रस—मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा), तिक्त (तीखा) और कषाय (कसैला)—इन छः रसोंको चखनेसे जो सुख होता है, वह

---

* वर्णात्मक शब्दमें भी दस रस होते हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य। ये दसों ही रस चित्त द्रवित होनेसे होते हैं। इन दसों रसोंका उपयोग भगवान्‌के लिये किया जाय तो ये सभी रस कल्याण करनेवाले हो जाते हैं और इनसे सुख भोगा जाय तो ये सभी रस पतन करनेवाले हो जाते हैं।

† ढोल, ढोलकी, तबला, पखावज, मृदङ्ग आदि 'खाल' के; सितार, सारङ्गी, मोरचंग आदि 'तार' के; मशक, पेटी (हारमोनियम), बाँसुरी, पूँगी आदि 'फूँक' के और झाँझ, मंजीरा, करताल आदि 'ताल' के बाजे हैं।

रसका सुख है।

(ङ) गन्ध—नाकसे अतर, तेल, फुलेल, लवेण्डर, पुष्प आदि सुगन्धवाले और लहसुन, प्याज आदि दुर्गन्धवाले पदार्थोंको सूँघनेसे जो सुख होता है, वह गन्धका सुख है।

(च) मान—शरीरका आदर-सत्कार होनेसे जो सुख होता है, वह मानका सुख है।

(छ) बड़ाई—नामकी प्रशंसा, वाह-वाह होनेसे जो सुख होता है, वह बड़ाईका सुख है।

(ज) आराम—शरीरसे परिश्रम न करनेसे अर्थात् निकम्मे पड़े रहनेसे जो सुख होता है, वह आरामका सुख है।

(४) मोक्ष—आत्मसाक्षात्कार, तत्त्वज्ञान, कल्याण, उद्धार, मुक्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्प्रेम आदिका नाम 'मोक्ष' है।

इन चारों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) में देखा जाये तो अर्थ और धर्म—दोनों ही परस्पर एक-दूसरेकी वृद्धि करनेवाले हैं अर्थात् अर्थसे धर्मकी और धर्मसे अर्थकी वृद्धि होती है। परन्तु धर्मका पालन कामनापूर्तिके लिये किया जाय तो वह धर्म भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है और अर्थको कामनापूर्तिमें लगाया जाय तो वह अर्थ भी कामनापूर्ति करके नष्ट हो जाता है। तात्पर्य है कि कामना धर्म और अर्थ—दोनोंको खा जाती है। इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने कामनाको 'महाशन' (बहुत खानेवाला) बताते हुए उसके त्यागकी बात विशेषतासे कही है (३। ३७—४३)। यदि धर्मका अनुष्ठान कामनाका त्याग करके किया जाय तो वह अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है। ऐसे ही धनको कामनाका त्याग करके दूसरोंके उपकारमें, हितमें,

सुखमें खर्च किया जाय तो वह भी अन्तःकरण शुद्ध करके मुक्त कर देता है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारोंमें 'अर्थ' (धन) और 'काम' (भोग) की प्राप्तिमें प्रारब्धकी मुख्यता और पुरुषार्थकी गौणता है, तथा 'धर्म' और 'मोक्ष'में पुरुषार्थकी मुख्यता और प्रारब्धकी गौणता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ—दोनोंका क्षेत्र अलग-अलग है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधान हैं। इस लिये कहा है—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्यः स्वाध्याये जपदानयोः॥

अर्थात् अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार, भोजन और धनमें तो सन्तोष करना चाहिये और स्वाध्याय, पाठ-पूजा, नाम-जप, कीर्तन और दान करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि प्रारब्धके फल—धन और भोगमें तो सन्तोष करना चाहिये; क्योंकि वे प्रारब्धके अनुसार जितने मिलनेवाले हैं, उतने ही मिलेंगे, उससे अधिक नहीं। परन्तु धर्मका अनुष्ठान और अपना कल्याण करनेमें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह नया पुरुषार्थ है और इसी पुरुषार्थके लिये मनुष्य-शरीर मिला है।

कर्मके दो भेद हैं—शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप)। शुभ कर्मका फल अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होना है और अशुभ कर्मका फल प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होना है। कर्म बाहरसे किये जाते हैं, इसलिये उन कर्मोंका फल भी बाहरकी परिस्थितिके रूपमें ही प्राप्त होता है। परन्तु उन परिस्थितियोंसे जो सुख-दुःख होते हैं, वे भीतर होते हैं। इसलिये उन परिस्थितियोंमें सुखी तथा

दुःखी होना शुभाशुभ-कर्मोंका अर्थात् प्रारब्धका फल नहीं है, प्रत्युत अपनी मूर्खताका फल है। अगर वह मूर्खता चली जाय, भगवान्पर* अथवा प्रारब्धपर† विश्वास हो जाय तो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी चित्तमें प्रसन्नता होगी, हर्ष होगा। कारण कि प्रतिकूल परिस्थितिमें पाप कटते हैं, आगे पाप न करनेमें सावधानी आती है और पापोंके नष्ट होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

साधकको अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो अनुकूल सामग्रीको दूसरोंके हितके लिये सेवाबुद्धिसे खर्च करना अनुकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उसका सुख-बुद्धिसे भोग करना दुरुपयोग है। ऐसे ही प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग करना और 'मेरे पूर्वकृत पापोंका नाश करनेके लिये, भविष्यमें पाप न करनेकी सावधानी रखनेके लिये और मेरी उन्नति करनेके लिये ही प्रभु-कृपासे ऐसी परिस्थिति

---

* लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेका पालन करने और ताड़ना करने—दोनोंमें माताकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

† यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥

(नारदपुराण, पूर्व ३७।४७)

'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा निश्चय जिनकी बुद्धिमें होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

आयी है'—ऐसा समझकर परम प्रसन्न रहना प्रतिकूल परिस्थितिका सदुपयोग है और उससे दुःखी होना दुरुपयोग है।

मनुष्य-शरीर सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं है। सुख भोगनेके स्थान स्वर्गादिक हैं और दुःख भोगनेके स्थान नरक तथा चौरासी लाख योनियाँ हैं। इसलिये वे भोगयोनियाँ हैं और मनुष्य कर्मयोनि है। परन्तु यह कर्मयोनि उनके लिये है जो मनुष्यशरीरमें सावधान नहीं होते, केवल जन्म-मरणके सामान्य प्रवाहमें ही पड़े हुए हैं। वास्तवमें मनुष्यशरीर सुख-दुःखसे ऊँचा उठनेके लिये अर्थात् मुक्तिकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये इसको कर्मयोनि न कहकर 'साधनयोनि' ही कहना चाहिये।

प्रारब्ध-कर्मोंके फलस्वरूप जो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उन दोनोंमें अनुकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है पर प्रतिकूल परिस्थितिका स्वरूपसे त्याग करनेमें मनुष्य परतन्त्र है अर्थात् उसका स्वरूपसे त्याग नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि अनुकूल परिस्थिति दूसरोंका हित करने, उन्हें सुख देनेके फलस्वरूप बनी है और प्रतिकूल परिस्थिति दूसरोंको दुःख देनेके फलस्वरूप बनी है। इसको एक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझ सकते हैं—

श्यामलालने रामलालको सौ रुपये उधार दिये। रामलालने वायदा किया कि अमुक महीने मैं ब्याजसहित रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत गया पर रामलालने रुपये नहीं लौटाये तो श्यामलाल रामलालके घर पहुँचा और बोला—'तुमने वायदेके अनुसार रुपये नहीं दिये! अब दो।' रामलालने कहा—'अभी मेरे पास रुपये नहीं हैं, परसों दे दूँगा।' श्यामलाल तीसरे दिन पहुँचा और

बोला—'लाओ मेरे रुपये !' रामलालने कहा—'अभी मैं आपके पैसे नहीं जुटा सका, परसों आपके रुपये जरूर दूँगा।' तीसरे दिन फिर श्यामलाल पहुँचा और बोला—'रुपये दो !' तो रामलालने कहा—'कल जरूर दूँगा।' दूसरे दिन श्यामलाल फिर पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये !' रामलालने कहा—'रुपये जुटे नहीं, मेरे पास रुपये हैं नहीं तो मैं कहाँसे दूँ? परसों आना।' रामलालकी बातें सुनकर श्यामलालको गुस्सा आ गया और 'परसों-परसों करता है, रुपये देता नहीं'—ऐसा कहकर उसने रामलालको पाँच जूते मार दिये। रामलालने कोर्टमें नालिश (शिकायत) कर दी। श्यामलालको बुलाया गया और पूछा गया—'तुमने इसके घरपर जाकर जूता मारा है?' तो श्यामलालने कहा—'हाँ साहब, मैंने जूता मारा है।' मैजिस्ट्रेटने पूछा—'क्यों मारा?'

श्यामलालने कहा—'इसको मैंने रुपये दिये थे और इसने वायदा किया था कि मैं इस महीने रुपये लौटा दूँगा। महीना बीत जानेपर मैंने इसके घरपर जाकर रुपये माँगे तो कल-परसों, कल-परसों कहकर इसने मुझे बहुत तंग किया। इसपर मैंने गुस्सेमें आकर इसे पाँच जूते मार दिये तो सरकार ! पाँच जूतोंके पाँच रुपये काटकर शेष रुपये मुझे दिला दीजिये !'

मैजिस्ट्रेटने हँसकर कहा—'यह फौजदारी कोर्ट है। यहाँ रुपये दिलानेका कायदा (नियम) नहीं है। यहाँ दण्ड देनेका कायदा है। इसलिये आपको जूता मारनेके बदलेमें कैद या जुर्माना भोगना ही पड़ेगा। आपको रुपये लेने हों तो दीवानी कोर्टमें जाकर नालिश करो, वहाँ रुपये दिलानेका कायदा है; क्योंकि वह विभाग अलग है।'

इस तरह अशुभ कर्मोंका फल जो प्रतिकूल परिस्थिति है, वह 'फौजदारी' है, इसलिये उसका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकते और शुभ कर्मोंका फल जो अनुकूल परिस्थिति है, वह 'दीवानी' है, इसलिये उसका स्वरूपसे त्याग किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यके शुभ-अशुभ कर्मोंका विभाग अलग-अलग है। इसलिये शुभ कर्मों (पुण्यों) और अशुभ कर्मों-(पापों-) का अलग-अलग संग्रह होता है। स्वाभाविकरूपसे ये दोनों एक-दूसरेसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते। हाँ, अगर मनुष्य पाप काटनेके उद्देश्यसे (प्रायश्चित्तरूपसे) शुभ कर्म करता है तो उसके पाप कट सकते हैं।

संसारमें एक आदमी पुण्यात्मा है, सदाचारी है और दुःख पा रहा है तथा एक आदमी पापात्मा है, दुराचारी है और सुख भोग रहा है— इस बातको लेकर अच्छे-अच्छे पुरुषोंके भीतर भी यह शङ्का हो जाया करती है कि इसमें ईश्वरका न्याय कहाँ है? * इसका समाधान यह है कि अभी पुण्यात्मा जो दुःख पा रहा है, यह पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पापका फल है, अभी किये हुए

---

* महाभारत, वनपर्वमें एक कथा आती है। एक दिन द्रौपदीने युधिष्ठिरजी महाराजसे कहा कि आप धर्मको छोड़कर एक कदम भी आगे नहीं रखते पर आप वनवासमें दुःख पा रहे हैं और दुर्योधन धर्मकी किञ्चिन्मात्र भी परवाह न करके केवल स्वार्थ-परायण हो रहा है पर वह राज्य कर रहा है, आरामसे रह रहा है और सुख भोग रहा है? ऐसी शङ्का करनेपर युधिष्ठिरजी महाराजने कहा कि जो सुख पानेकी इच्छासे धर्मका पालन करते हैं, वे धर्मके तत्त्वको जानते ही नहीं! वे तो पशुओंकी तरह सुख-भोगके लिये लोलुप और दुःखसे भयभीत रहते हैं, फिर बेचारे धर्मके तत्त्वको कैसे जानें! इसलिये मनुष्यकी मनुष्यता इसीमें है कि वे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिकी परवाह न करके शास्त्रके आज्ञानुसार केवल अपने धर्म- (कर्तव्य-) का पालन करते रहें।

पुण्यका नहीं। ऐसे ही अभी पापात्मा जो सुख भोग रहा है, यह भी पूर्वके किसी जन्ममें किये हुए पुण्यका फल है, अभी किये हुए पापका नहीं।

इसमें एक तात्त्विक बात और है। कर्मोंके फलरूपमें जो अनुकूल परिस्थिति आती है, उससे सुख ही होता है और प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उससे दुःख ही होता है—ऐसी बात है नहीं। जैसे, अनुकूल परिस्थिति आनेपर मनमें अभिमान होता है, छोटोंसे घृणा होती है, अपनेसे अधिक सम्पत्तिवालोंको देखकर उनसे ईर्ष्या होती है, असहिष्णुता होती है, अन्तःकरणमें जलन होती है और मनमें ऐसे दुर्भाव आते हैं कि उनकी सम्पत्ति कैसे नष्ट हो तथा वक्तपर उनको नीचा दिखानेकी चेष्टा भी होती है। इस तरह सुख-सामग्री और धन-सम्पत्ति पासमें रहनेपर भी वह सुखी नहीं हो सकता। परन्तु बाहरी सामग्रीको देखकर अन्य लोगोंको यह भ्रम होता है कि वह बड़ा सुखी है। ऐसे ही किसी विरक्त और त्यागी मनुष्यको देखकर भोग-सामग्रीवाले मनुष्यको उसपर दया आती है कि बेचारेके पास धन-सम्पत्ति आदि सामग्री नहीं है, बेचारा बड़ा दुःखी है ! परन्तु वास्तवमें विरक्तके मनमें बड़ी शान्ति और बड़ी प्रसन्नता रहती है। वह शान्ति और प्रसन्नता धनके कारण किसी धनीमें नहीं रह सकती। इसलिये धनका होनामात्र सुख नहीं है और धनका अभावमात्र दुःख नहीं है। सुख नाम हृदयकी शान्ति और प्रसन्नताका है और दुःख नाम हृदयकी जलन और सन्तापका है।

पुण्य और पापका फल भोगनेमें एक नियम नहीं है। पुण्य तो निष्कामभावसे भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त हो सकता है;

परन्तु पाप भगवान्‌के अर्पण करनेसे समाप्त नहीं होता। पापका फल तो भोगना ही पड़ता है; क्योंकि भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध किये हुए कर्म भगवान्‌के अर्पण कैसे हो सकते हैं? और अर्पण करनेवाला भी भगवान्‌के विरुद्ध कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कैसे कर सकता है? प्रत्युत भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार किये हुए कर्म ही भगवान्‌के अर्पण होते हैं। इस विषयमें एक कहानी आती है।

एक राजा अपनी प्रजा-सहित हरिद्वार गया। उसके साथमें सब तरहके लोग थे। उनमें एक चमार भी था। उस चमारने सोचा कि ये बनिये लोग बड़े चतुर होते हैं। ये अपनी बुद्धिमानीसे धनी बन गये हैं। अगर हम भी उनकी बुद्धिमानीके अनुसार चलें तो हम भी धनी बन जायँ! ऐसा विचार करके वह एक चतुर बनियेकी क्रियाओंपर निगरानी रखकर चलने लगा। जब हरिद्वारके ब्रह्मकुण्डमें पण्डा दान-पुण्यका संकल्प कराने लगा, तब उस बनियेने कहा—'मैंने अमुक ब्राह्मणको सौ रुपये उधार दिये थे, आज मैं उनको दानरूपमें श्रीकृष्णार्पण करता हूँ!' पण्डेने संकल्प भरवा दिया। चमारने देखा कि इसने एक कौड़ी भी नहीं दी और लोगोंमें प्रसिद्ध हो गया कि इसने सौ रुपयोंका दान कर दिया, कितना बुद्धिमान् है! मैं भी इससे कम नहीं रहूँगा। जब पण्डेने चमारसे संकल्प भरवाना शुरू किया, तब चमारने कहा—'अमुक बनियेने मुझे सौ रुपये उधार दिये थे तो उन सौ रुपयोंको मैं श्रीकृष्णार्पण करता हूँ।' उसकी ग्रामीण बोलीको पण्डा पूरी तरह समझा नहीं और संकल्प भरवा दिया। इससे चमार बड़ा खुश हो गया कि मैंने भी बनियेके समान सौ रुपयोंका दान-पुण्य कर दिया!

सब घर पहुँचे। समयपर खेती हुई। ब्राह्मण और चमारके खेतोंमें खूब अनाज पैदा हुआ। ब्राह्मण-देवताने बनियेसे कहा—'सेठ! आप चाहें तो सौ रुपयोंका अनाज ले लो, इससे आपको नफा भी हो सकता है। मुझे तो आपका कर्जा चुकाना है।' बनियेने कहा—'ब्राह्मण देवता! जब मैं हरिद्वार गया था, तब मैंने आपको उधार दिये हुए सौ रुपये दान कर दिये।' ब्राह्मण बोला—'सेठ! मैंने आपसे सौ रुपये उधार लिये हैं, दान नहीं लिये। इसलिये इन रुपयोंको मैं रखना नहीं चाहता, ब्याजसहित पूरा चुकाना चाहता हूँ।' सेठने कहा—'आप देना ही चाहते हैं तो अपनी बहन अथवा कन्याको दे सकते हैं। मैंने सौ रुपये भगवान्‌के अर्पण कर दिये हैं, इसलिये मैं तो लूँगा नहीं।' अब ब्राह्मण और क्या करता? वह अपने घर लौट गया।

अब जिस बनियेसे चमारने सौ रुपये लिये थे, वह बनिया चमारके खेतमें पहुँचा और बोला—'लाओ मेरे रुपये। तुम्हारा अनाज हुआ है, सौ रुपयोंका अनाज ही दे दो।' चमारने सुन रखा था कि ब्राह्मणके देनेपर भी बनियेने उससे रुपये नहीं लिये। अतः उसने सोचा कि मैंने भी संकल्प कर रखा है तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे? ऐसा सोचकर चमार बनियेसे बोला—'मैंने तो अमुक सेठकी तरह गङ्गाजीमें खड़े होकर सब रुपये श्रीकृष्णार्पण कर दिये तो मेरेको रुपये क्यों देने पड़ेंगे?' बनिया बोला—'तेरे अर्पण कर देनेसे कर्जा नहीं छूट सकता; क्योंकि तूने मेरेसे कर्जा लिया है तो तेरे छोड़नेसे कैसे छूट जायगा? मैं तो अपने सौ रुपये ब्याजसहित पूरे लूँगा; लाओ मेरे रुपये!' ऐसा कहकर उसने चमारसे अपने रुपयोंका अनाज ले लिया।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि हमारेपर दूसरोंका जो कर्जा है, वह हमारे छोड़नेसे नहीं छूट सकता। ऐसे ही हम भगवदाज्ञानुसार शुभ कर्मोंको तो भगवान्‌के अर्पण करके उनके बन्धनसे छूट सकते हैं, पर अशुभ कर्मोंका फल तो हमारेको भोगना ही पड़ेगा। इसलिये शुभ और अशुभ कर्मोंमें एक कायदा, कानून नहीं है। अगर ऐसा नियम बन जाय कि भगवान्‌के अर्पण करनेसे ऋण और पाप-कर्म छूट जायँ तो फिर सभी प्राणी मुक्त हो जायँ; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। हाँ, इसमें एक मार्मिक बात है कि अपने-आपको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर देनेपर अर्थात्—सर्वथा भगवान्‌के शरण हो जानेपर पाप-पुण्य सर्वथा नष्ट हो जाते हैं * (गीता १८। ६६)।

दूसरी शङ्का यह होती है कि धन और भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्ध कर्मके अनुसार होती है—ऐसी बात समझमें नहीं आती; क्योंकि हम देखते हैं कि इन्कम-टैक्स, सेल्स-टैक्स आदिकी चोरी करते हैं तो धन बच जाता है और टैक्स पूरा देते हैं तो धन चला जाता है तो धनका आना-जाना प्रारब्धके अधीन कहाँ हुआ? यह तो चोरीके ही अधीन हुआ!

इसका समाधान इस प्रकार है। वास्तवमें धन प्राप्त करना

---

* देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ५। ४१)

राजन्! 'जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें आ जाता है, वह देव, ऋषि, कुटुम्बीजन और पितृगण—इन किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

और भोग भोगना—इन दोनोंमें ही प्रारब्धकी प्रधानता है। परन्तु इन दोनोंमें भी किसीका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध होता है, भोगका नहीं और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, धन-प्राप्तिका नहीं तथा किसीका धन और भोग दोनोंका ही प्रारब्ध होता है। जिसका धन-प्राप्तिका प्रारब्ध तो है पर भोगका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास लाखों रुपये रहनेपर भी बीमारीके कारण वैद्य, डॉक्टरके मना करनेपर वह भोगोंको भोग नहीं सकता, उसको खानेमें रूखा-सूखा ही मिलता है। जिसका भोगका प्रारब्ध तो है पर धनका प्रारब्ध नहीं है, उसके पास धनका अभाव होनेपर भी उसके सुख-आराममें किसी तरहकी कमी नहीं रहती।* उसको किसीकी दयासे, मित्रतासे, काम-धंधा मिल जानेसे प्रारब्धके अनुसार जीवन-निर्वाहकी सामग्री मिलती रहती है।

अगर धनका प्रारब्ध नहीं है तो चोरी करनेपर भी धन नहीं मिलेगा, प्रत्युत चोरी किसी प्रकारसे प्रकट हो जायगी तो बचा हुआ धन भी चला जायगा तथा दण्ड और मिलेगा। यहाँ दण्ड मिले या न मिले, पर परलोकमें तो दण्ड जरूर मिलेगा। उससे वह बच नहीं सकेगा। अगर प्रारब्धवश चोरी करनेसे धन मिल भी जाय तो भी उस धनका उपभोग नहीं हो सकेगा। वह धन

---

* सर्वथा त्यागीको भी अनुकूल वस्तुएँ बहुत मिलती हुई देखी जाती हैं (यह बात अलग है कि वह उन्हें स्वीकार न करे)। त्यागमें तो एक और विलक्षणता भी है कि जो मनुष्य धनका त्याग कर देता है, जिसके मनमें धनका महत्त्व नहीं है और अपनेको धनके अधीन नहीं मानता, उसके लिये धनका एक नया प्रारब्ध बन जाता है। कारण कि त्याग भी एक बड़ा भारी पुण्य है, जिससे तत्काल एक नया प्रारब्ध बनता है।

धान नहीं धीणों- नहीं, नहीं रुपैयो रोक।
जिमण बैठे रामदास, आन मिलै सब थोक॥

बीमारीमें, चोरीमें, डाकेमें, मुकदमेमें, ठगाईमें चला जायगा। तात्पर्य यह कि वह धन जितने दिन टिकनेवाला है, उतने ही दिन टिकेगा और फिर नष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, इन्कम-टैक्स आदिकी चोरी करनेके जो संस्कार भीतर पड़े हैं, वे संस्कार जन्म-जन्मान्तरतक उसे चोरी करनेके लिये उकसाते रहेंगे और वह उनके कारण दण्ड पाता रहेगा।

अगर धनका प्रारब्ध है तो कोई गोद ले लेगा अथवा मरता हुआ कोई व्यक्ति उसके नामसे वसीयतनामा लिख देगा अथवा मकान बनाते समय नींव खोदते ही जमीनमें गड़ा हुआ धन मिल जायगा, आदि-आदि। इस प्रकार प्रारब्धके अनुसार जो धन मिलनेवाला है, वह किसी-न-किसी कारणसे मिलेगा ही।*

परन्तु मनुष्य प्रारब्धपर तो विश्वास करता नहीं, कम-से-कम अपने पुरुषार्थपर भी विश्वास नहीं करता कि हम मेहनतसे कमाकर खा लेंगे। इसी कारण उसकी चोरी आदि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे हृदयमें जलन रहती है, दूसरोंसे छिपाव करना पड़ता है, पकड़े जानेपर दण्ड पाना पड़ता है, आदि-आदि। अगर मनुष्य विश्वास और सन्तोष रखे तो हृदयमें महान् शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता रहती है तथा आनेवाला धन भी आ जाता है और जितना

---

* प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो दैवोऽपि तं लङ्घयितुं न शक्तः।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्॥
(पञ्चतन्त्र मित्रसम्प्राप्ति ११२)

'प्राप्त होनेवाला धन मनुष्यको मिलता ही है, दैव भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये न तो मैं शोक करता हूँ और न मुझे विस्मय ही होता है; क्योंकि जो हमारा है, वह दूसरोंका नहीं हो सकता।'

जीनेका प्रारब्ध है, उतनी जीवन-निर्वाहकी सामग्री भी किसी-न-किसी तरह मिलती ही रहती है।

जैसे व्यापारमें घाटा लगना, घरमें किसीकी मृत्यु होना, बिना कारण अपयश और अपमान होना आदि प्रतिकूल परिस्थितिको कोई भी नहीं चाहता पर फिर भी वह आती ही है, ऐसे ही अनुकूल परिस्थिति भी आती ही है, उसको कोई रोक नहीं सकता। भागवतमें आया है—

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥

(श्रीमद्भा० ११।८।१)

'राजन्! प्राणियोंको जैसे इच्छाके बिना प्रारब्धानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, ऐसे ही इन्द्रियजन्य सुख स्वर्गमें और नरकमें भी प्राप्त होते हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह उन सुखोंकी इच्छा न करे।'

जैसे धन और भोगका प्रारब्ध अलग-अलग होता है अर्थात् किसीका धनका प्रारब्ध होता है और किसीका भोगका प्रारब्ध होता है, ऐसे ही धर्म और मोक्षका पुरुषार्थ भी अलग-अलग होता है अर्थात् कोई धर्मके लिये पुरुषार्थ करता है और कोई मोक्षके लिये पुरुषार्थ करता है। धर्मके अनुष्ठानमें शरीर, धन आदि वस्तुओंकी मुख्यता रहती है और मोक्षकी प्राप्तिमें भाव तथा विचारकी मुख्यता रहती है।

एक 'करना' होता है और एक 'होना' होता है। दोनों विभाग अलग-अलग हैं। करनेकी चीज है—कर्तव्य और होनेकी चीज है—फल। मनुष्यका कर्म करनेमें अधिकार है, फलमें नहीं—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' (गीता २।४७)। तात्पर्य यह है कि होनेकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार अवश्य होती है, उसके लिये 'यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये'—ऐसी इच्छा नहीं करनी चाहिये और करनेमें शास्त्र तथा लोक-मर्यादाके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये। 'करना' पुरुषार्थके अधीन है और 'होना' प्रारब्धके अधीन है। इसलिये मनुष्य करनेमें स्वाधीन है और होनेमें पराधीन है। मनुष्यकी उन्नतिमें खास बात है—'करनेमें सावधान रहे और होनेमें प्रसन्न रहे।'

क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध—तीनों कर्मोंसे मुक्त होनेका क्या उपाय है?

प्रकृति और पुरुष—ये दो हैं। प्रकृति सदा क्रियाशील है, पर पुरुषमें कभी परिवर्तनरूप क्रिया नहीं होती। प्रकृतिसे अपना सम्बन्ध माननेवाला 'प्रकृतिस्थ' पुरुष ही कर्ता-भोक्ता बनता है। जब वह प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, तब उसपर कोई भी कर्म लागू नहीं होता।

प्रारब्ध-सम्बन्धी अन्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) बोध हो जानेपर भी ज्ञानीका प्रारब्ध रहता है—यह कथन केवल अज्ञानियोंको समझानेमात्रके लिये है। कारण कि अनुकूल या प्रतिकूल घटनाका घट जाना ही प्रारब्ध है। प्राणीको सुखी या दुःखी करना प्रारब्धका काम नहीं है, प्रत्युत अज्ञानका काम है। अज्ञान मिटनेपर मनुष्य सुखी-दुःखी नहीं होता। उसे केवल अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होता है। ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत सुख-दुःखरूप विकार होना दोषी है। इसलिये वास्तवमें ज्ञानीका प्रारब्ध नहीं होता।

(२) जैसा प्रारब्ध होता है, वैसी बुद्धि बन जाती है। जैसे, एक ही बाजारमें एक व्यापारी मालकी बिक्री कर देता है और एक व्यापारी माल खरीद लेता है। बादमें जब बाजार-भाव तेज हो जाता है, तब बिक्री करनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नफा होता है और जब बाजार-भाव मन्दा हो जाता है, तब बिक्री करनेवाले व्यापारीको नफा होता है तथा खरीदनेवाले व्यापारीको नुकसान होता है। अतः खरीदने और बेचनेकी बुद्धि प्रारब्धसे बनती है अर्थात् नफा या नुकसानका जैसा प्रारब्ध होता है, उसीके अनुसार पहले बुद्धि बन जाती है, जिससे प्रारब्धके अनुसार फल भुगताया जा सके। परन्तु खरीदने और बेचनेकी क्रिया न्याययुक्त की जाय अथवा अन्याययुक्त की जाय—इसमें मनुष्य स्वतन्त्र है; क्योंकि यह क्रियमाण (नया कर्म) है, प्रारब्ध नहीं।

(३) एक आदमीके हाथसे गिलास गिरकर टूट गया तो यह उसकी असावधानी है या प्रारब्ध ?

कर्म करते समय तो सावधान रहना चाहिये पर जो (अच्छा या बुरा) हो गया, उसे पूरी तरहसे प्रारब्ध—होनहार ही मानना चाहिये। उस समय जो यह कहते हैं कि यदि तू सावधानी रखता तो गिलास न टूटता—इससे यह समझना चाहिये कि अब आगेसे मुझे सावधानी रखनी है कि दुबारा ऐसी गलती न हो जाय। वास्तवमें जो हो गया, उसे असावधानी न मानकर होनहार मानना चाहिये। इसलिये करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहे।

(४) प्रारब्धसे होनेवाले और कुपथ्यसे होनेवाले रोगमें क्या फर्क है?

कुपथ्यजन्य रोग दवाईसे मिट सकता है; परन्तु प्रारब्धजन्य रोग दवाईसे नहीं मिटता। महामृत्युञ्जय आदिका जप और यज्ञ-यागादि अनुष्ठान करनेसे प्रारब्धजन्य रोग भी कट सकता है, अगर अनुष्ठान प्रबल हो तो।

रोगके दो प्रकार हैं—आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग)। आधिके भी दो भेद हैं—एक तो शोक, चिन्ता आदि और दूसरा पागलपन। चिन्ता, शोक आदि तो अज्ञानसे होते हैं और पागलपन प्रारब्धसे होता है। अतः ज्ञान होनेपर चिन्ता-शोकादि तो मिट जाते हैं पर प्रारब्धके अनुसार पागलपन हो सकता है। हाँ, पागलपन होनेपर भी ज्ञानीके द्वारा कोई अनुचित, शास्त्रनिषिद्ध क्रिया नहीं होती।

(५) आकस्मिक मृत्यु और अकाल मृत्युमें क्या फरक है ?

कोई व्यक्ति साँप काटनेसे मर जाय, अचानक ऊपरसे गिरकर मर जाय, पानीमें डूबकर मर जाय, हार्टफेल होनेसे मर जाय, किसी दुर्घटना आदिसे मर जाय तो यह उसकी 'आकस्मिक मृत्यु' है। स्वाभाविक मृत्युकी तरह आकस्मिक मृत्यु भी प्रारब्धके अनुसार (आयु पूरी होनेपर) होती है।

कोई व्यक्ति जानकर आत्महत्या कर ले अर्थात् फाँसी लगाकर, कुएँमें कूदकर, गाड़ीके नीचे आकर, छतसे कूदकर, जहर खाकर, शरीरमें आग लगाकर मर जाय तो यह उसकी 'अकाल मृत्यु' है। यह मृत्यु आयुके रहते हुए ही होती है। आत्महत्या करनेवालेको मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है। अतः यह नया पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं। मनुष्यशरीर परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः उसको आत्महत्या करके नष्ट करना बड़ा भारी पाप है।

कई बार आत्महत्या करनेकी चेष्टा करनेपर भी मनुष्य बच जाता है, मरता नहीं। इसका कारण यह है कि उसका दूसरे मनुष्यके प्रारब्धके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ रहता है; अतः उसके प्रारब्धके कारण वह बच जाता है। जैसे, भविष्यमें किसीका पुत्र होनेवाला है और वह आत्महत्या करनेका प्रयास करे तो उस (आगे होनेवाले) लड़केका प्रारब्ध उसको मरने नहीं देगा। अगर उस व्यक्तिके द्वारा भविष्यमें कोई विशेष अच्छा काम होनेवाला हो, लोगोंका उपकार होनेवाला हो अथवा इसी जन्ममें, इसी शरीरमें प्रारब्धका कोई उत्कट भोग (सुख-दुःख) आनेवाला हो तो आत्महत्याका प्रयास करनेपर भी वह मरेगा नहीं।

(६) एक आदमीने दूसरे आदमीको मार दिया तो यह उसने पिछले जन्मके वैरका बदला लिया और मरनेवालेने पुराने कर्मोंका फल पाया, फिर मारनेवालेका क्या दोष ?

मारनेवालेका दोष है। दण्ड देना शासकका काम है, सर्वसाधारणका नहीं। एक आदमीको दस बजे फाँसी मिलनी है। एक-दूसरे आदमीने उस (फाँसीकी सजा पानेवाले) आदमीको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसे कत्ल कर दिया! ऐसी हालतमें उस कत्ल करनेवाले आदमीको भी फाँसी होगी कि यह आज्ञा तो राज्यने जल्लादोंको दी थी पर तुम्हें किसने आज्ञा दी थी ?

मारनेवालेको यह याद नहीं है कि मैं पूर्वजन्मका बदला ले रहा हूँ, फिर भी मारता है तो यह उसका दोष है। दूसरेको मारनेका अधिकार किसीको भी नहीं है। मरना कोई भी नहीं चाहता। दूसरेको मारना अपने विवेकका अनादर है। मनुष्यमात्रको

विवेकशक्ति प्राप्त है और उस विवेकके अनुसार अच्छे या बुरे कार्य करनेमें वह स्वतन्त्र है। अतः विवेकका अनादर करके दूसरेको मारना अथवा मारनेकी नीयत रखना दोष है।

यदि पूर्वजन्मका बदला एक-दूसरे ऐसे ही चुकाते रहें तो यह शृङ्खला कभी खत्म नहीं होगी और मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो सकेगा।

पिछले जन्मका बदला अन्य (साँप आदि) योनियोंमें लिया जा सकता है। मनुष्ययोनि बदला लेनेके लिये नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि पिछले जन्मका हत्यारा व्यक्ति हमें स्वाभाविक ही अच्छा नहीं लगेगा, बुरा लगेगा। परन्तु बुरे लगनेवाले व्यक्तिसे द्वेष करना या उसे कष्ट देना दोष है; क्योंकि यह नया कर्म है।

जैसा प्रारब्ध है, उसीके अनुसार उसकी बुद्धि बन गयी, फिर दोष किस बातका ?

बुद्धिमें जो द्वेष है, उसके वशमें हो गया—यह दोष है। उसे चाहिये कि वह उसके वशमें न होकर विवेकका आदर करे। गीता भी कहती है कि बुद्धिमें जो राग-द्वेष रहते हैं (३।४०), उनके वशमें न हो—**'तयोर्न वशमागच्छेत्'** (३।३४)।

(७) प्रारब्ध और भगवत्कृपामें क्या अन्तर है?

इस जीवको जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अनुसार मिलता है पर प्रारब्ध-विधानके विधाता स्वयं भगवान् हैं। कारण कि कर्म जड होनेसे स्वतन्त्र फल नहीं दे सकते, वे तो भगवान्‌के विधानसे ही फल देते हैं। जैसे, एक आदमी किसीके खेतमें दिनभर काम करता है तो उसको शामके समय कामके अनुसार पैसे मिलते हैं पर मिलते हैं खेतके मालिकसे।

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं, बिना काम किये पैसे मिलते हैं क्या ?

पैसे तो काम करनेसे ही मिलते हैं; परन्तु बिना मालिकके पैसा देगा कौन? यदि कोई जंगलमें जाकर दिनभर मेहनत करे तो क्या उसको पैसे मिल जायँगे? नहीं मिल सकते। उसमें यह देखा जायगा कि किसके कहनेसे काम किया और किसकी जिम्मेवारी रही।

अगर कोई नौकर कामको बड़ी तत्परता, चतुरता और उत्साहसे करता है पर करता है केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये तो मालिक उसको मजदूरीसे अधिक पैसे भी दे देता है और तत्परता आदि गुणोंको देखकर उसको अपने खेतका हिस्सेदार भी बना देता है। ऐसे ही भगवान् मनुष्यको उसके कर्मोंके अनुसार फल देते हैं। अगर कोई मनुष्य भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये सब कार्य करता है, उसे भगवान् दूसरोंकी अपेक्षा अधिक ही देते हैं; परन्तु जो भगवान्‌के सर्वथा समर्पित होकर सब कार्य करता है, उस भक्तके भगवान् भी भक्त बन जाते हैं ! * संसारमें कोई भी नौकरको अपना मालिक नहीं बनाता; परन्तु भगवान् शरणागत भक्तको अपना मालिक बना लेते हैं। ऐसी उदारता केवल प्रभुमें ही है। ऐसे प्रभुके चरणोंकी शरण न होकर जो मनुष्य प्राकृत—उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंके पराधीन रहते हैं, उनकी बुद्धि सर्वथा ही भ्रष्ट हो चुकी है। वे इस बातको समझ ही नहीं सकते कि हमारे सामने प्रत्यक्ष उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थ हमें कहाँतक सहारा दे सकते हैं।

(गीता १८। १२ की व्याख्यासे)

---

* एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान्। (श्रीमद्भा० १०। ८६। ५९)

वर्ण-व्यवस्थाका तात्पर्य

(१)

कर्म दो तरहके होते हैं—(१) जन्मारम्भक कर्म और (२) भोगदायक कर्म। जिन कर्मोंसे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होता है, वे 'जन्मारम्भक कर्म' कहलाते हैं और जिन कर्मोंसे सुख-दुःखका भोग होता है, वे 'भोगदायक कर्म' कहलाते हैं। भोगदायक कर्म अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको पैदा करते हैं, जिसको गीतामें अनिष्ट, इष्ट और मिश्र नामसे कहा गया है (१८। १२)।

गहरी दृष्टिसे देखा जाय तो मात्र कर्म भोगदायक होते हैं अर्थात् जन्मारम्भक कर्मोंसे भी भोग होता है और भोगदायक कर्मोंसे भी भोग होता है। जैसे, जिसका उत्तम कुलमें जन्म होता है, उसका आदर होता है, सत्कार होता है और जिसका नीच कुलमें जन्म होता है, उसका निरादर होता है, तिरस्कार होता है। ऐसे ही अनुकूल परिस्थितिवालेका आदर होता है और प्रतिकूल परिस्थितिवालेका निरादर होता है। तात्पर्य है कि आदर और निरादररूपसे भोग तो जन्मारम्भक और भोगदायक—दोनों कर्मोंका होता है। परन्तु जन्मारम्भक कर्मोंसे जो जन्म होता है, उसमें आदर-निरादररूप भोग गौण होता है; क्योंकि आदर-निरादर कभी-कभी हुआ करते हैं, हरदम नहीं हुआ करते और भोगदायक कर्मोंसे जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उसमें

परिस्थितिका भोग मुख्य होता है; क्योंकि परिस्थिति हरदम आती रहती है।

भोगदायक कर्मोंका सदुपयोग-दुरुपयोग करनेमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है अर्थात् वह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी भी हो सकता है और उसको साधन-सामग्री भी बना सकता है। जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिसे सुखी-दुःखी होते हैं, वे मूर्ख होते हैं, और जो उसको साधन-सामग्री बनाते हैं, वे बुद्धिमान् साधक होते हैं। कारण कि मनुष्यजन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः इसमें जो भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब साधन-सामग्री ही है।

अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको साधन-सामग्री बनाना क्या है? अनुकूल परिस्थिति आ जाय तो उसको दूसरोंकी सेवामें, दूसरोंके सुख-आराममें लगा दे और प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो सुखकी इच्छाका त्याग कर दे। दूसरोंकी सेवा करना और सुखेच्छाका त्याग करना—ये दोनों साधन हैं।

(२)

शास्त्रोंमें आता है कि पुण्योंकी अधिकता होनेसे जीव स्वर्गमें जाता है और पापोंकी अधिकता होनेसे नरकोंमें जाता है तथा पुण्य-पाप समान होनेसे मनुष्य बनता है। इस दृष्टिसे किसी भी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिका कोई भी मनुष्य सर्वथा पुण्यात्मा या पापात्मा नहीं हो सकता।

पुण्य-पाप समान होनेपर जो मनुष्य बनता है, उसमें भी अगर देखा जाय तो पुण्य-पापोंका तारतम्य रहता है अर्थात् किसीके पुण्य अधिक होते हैं और किसीके पाप अधिक होते

हैं।* ऐसे ही गुणोंका विभाग भी है। कुल मिलाकर सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले ऊर्ध्वलोकमें जाते हैं। रजोगुणकी प्रधानतावाले मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोकमें आते हैं और तमोगुणकी प्रधानतावाले अधोगतिमें जाते हैं। इन तीनोंमें भी गुणोंके तारतम्यसे अनेक तरहके भेद होते हैं।

सत्त्वगुणकी प्रधानतासे ब्राह्मण, रजोगुणकी प्रधानता और सत्त्वगुणकी गौणतासे क्षत्रिय, रजोगुणकी प्रधानता और तमोगुणकी गौणतासे वैश्य तथा तमोगुणकी प्रधानतासे शूद्र होता है। यह तो सामान्य रीतिसे गुणोंकी बात बतायी। अब इनके अवान्तर तारतम्यका विचार करते हैं—रजोगुण-प्रधान मनुष्योंमें सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले ब्राह्मण हुए। इन ब्राह्मणोंमें भी जन्मके भेदसे ऊँच-नीच ब्राह्मण माने जाते हैं और परिस्थितिरूपसे कर्मोंका फल भी कई तरहका आता है अर्थात् सब ब्राह्मणोंकी एक समान अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति नहीं आती। इस दृष्टिसे ब्राह्मणयोनिमें भी तीनों गुण मानने पड़ेंगे। ऐसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी जन्मसे ऊँच-नीच माने जाते हैं और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भी कई तरहकी आती है। इसलिये गीतामें

* जैसे परीक्षामें अनेक विषय होते हैं और उन विषयोंमेंसे किसी विषयमें कम और किसी विषयमें अधिक नम्बर मिलते हैं। उन सभी विषयोंके नम्बरोंको मिलाकर कुल जितने नम्बर आते हैं, उनसे परीक्षाफल तैयार होता है। ऐसे ही प्रत्येक मनुष्यके किसी विषयमें पुण्य अधिक होते हैं और किसी विषयमें पाप अधिक होते हैं और कुल मिलाकर जितने पुण्य-पाप होते हैं, उसके अनुसार उसको जन्म मिलता है। अगर अलग-अलग विषयोंमें सबके पुण्य-पाप समान होते तो सभीको बराबर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति मिलती पर ऐसा होता नहीं। इसलिये सभीके पुण्य-पापोंमें अनेक प्रकारका तारतम्य रहता है। यही बात सत्त्वादि गुणोंके विषयमें भी समझनी चाहिये।

कहा गया है कि तीनों लोकोंमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तीनों गुणोंसे रहित हो (१८।४०)।

अब जो मनुष्येतर योनिवाले पशु-पक्षी आदि हैं, उनमें भी ऊँच-नीच माने जाते हैं; जैसे गाय आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं और कुत्ता, गधा, सूअर आदि नीच माने जाते हैं। कबूतर आदि श्रेष्ठ माने जाते हैं और कौआ, चील आदि नीच माने जाते हैं। इन सबको अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति भी एक समान नहीं मिलती। तात्पर्य है कि ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगतिवालोंमें भी कई तरहके जाति-भेद और परिस्थिति-भेद होते हैं।

(गीता १८।४१ की व्याख्यासे)

जाति जन्मसे मानी जाय या कर्मसे ?

ऊँच-नीच योनियोंमें जितने भी शरीर मिलते हैं, वे सब गुण और कर्मके अनुसार ही मिलते हैं। * गुण और कर्मके अनुसार ही मनुष्यका जन्म होता है; इसलिये मनुष्यकी जाति जन्मसे ही मानी जाती है। अतः स्थूलशरीरकी दृष्टिसे विवाह, भोजन आदि कर्म जन्मकी प्रधानतासे ही करने चाहिये अर्थात् अपनी जाति या वर्णके अनुसार ही भोजन, विवाह आदि कर्म होने चाहिये।

दूसरी बात, जिस प्राणीका सांसारिक भोग, धन, मान, आराम, सुख आदिका उद्देश्य रहता है, उसके लिये वर्णके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना और वर्णकी मर्यादामें चलना आवश्यक हो जाता है। यदि वह वर्णकी मर्यादामें नहीं चलता तो

---

* कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥
(गीता १३।२१)

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥
(गीता १४।१६)

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४।१८)

उसका पतन हो जाता है।† परन्तु जिसका उद्देश्य केवल परमात्मा ही है, संसारके भोग आदि नहीं, उसके लिये सत्सङ्ग, स्वाध्याय, जप, ध्यान, कथा, कीर्तन, परस्पर विचार-विनिमय आदि भगवत् सम्बन्धी काम मुख्य होते हैं। तात्पर्य है कि परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणीके पारमार्थिक भाव, आचरण आदिकी मुख्यता है, जाति या वर्णकी नहीं।

तीसरी बात, जिसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्तिका है, वह भगवत्सम्बन्धी कार्योंको मुख्यतासे करते हुए भी वर्ण-आश्रमके अनुसार अपने कर्तव्य-कर्मोंको पूजन-बुद्धिसे केवल भगवत् प्रीत्यर्थ ही करता है। इसलिये भगवान्ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

इस श्लोकमें भगवान्ने बड़ी श्रेष्ठ बात बतायी है कि जिससे सम्पूर्ण संसार पैदा हुआ है और जिससे सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका ही लक्ष्य रखकर, उसके प्रीत्यर्थ ही पूजन-रूपसे अपने-अपने वर्णके अनुसार कर्म किये जायँ। इसमें मनुष्यमात्रका

---

* आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यदप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

(वसिष्ठस्मृति)

'शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष—इन छहों अङ्गोंसहित अध्ययन किये हुए वेद भी आचारहीन पुरुषको पवित्र नहीं करते। पंख पैदा होनेपर पक्षी जैसे अपने घोंसलेको छोड़ देता है, ऐसे ही मृत्युसमयमें आचारहीन पुरुषको वेद छोड़ देते हैं।'

अधिकार है। देवता, असुर, पशु, पक्षी आदिका स्वतः अधिकार नहीं है; परन्तु उनके लिये भी परमात्माकी तरफसे निषेध नहीं है। कारण कि सभी परमात्माका अंश होनेसे परमात्माकी प्राप्तिके सभी अधिकारी हैं। प्राणिमात्रका भगवान्पर पूरा अधिकार है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आपसके व्यवहारमें अर्थात् रोटी, बेटी और शरीर आदिके साथ बर्ताव करनेमें तो 'जन्म' की प्रधानता है और परमात्माकी प्राप्तिमें भाव, विवेक और 'कर्म' की प्रधानता है। इसी आशयको लेकर भागवतकारने कहा है कि जिस मनुष्यके वर्णको बतानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्णवालेमें भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझ लेना चाहिये।* अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणके शम-दम आदि जितने लक्षण हैं, वे लक्षण या गुण स्वाभाविक ही किसीमें हों तो जन्ममात्रसे नीचा होनेपर भी उसको नीचा नहीं मानना चाहिये। ऐसे ही महाभारतमें युधिष्ठिर और नहुषके संवादमें आया है कि जो शूद्र आचरणोंमें श्रेष्ठ है, उस शूद्रको शूद्र नहीं मानना चाहिये और जो ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मोंसे रहित है, उस ब्राह्मणको ब्राह्मण नहीं मानना चाहिये† अर्थात् वहाँ कर्मोंकी ही प्रधानता ली गयी है, जन्मकी नहीं।

---

* यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्॥
(श्रीमद्भा० ७। ११। ३५)

† शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः॥
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥
(महाभारत, वनपर्व १८०। २५-२६)

शास्त्रोंमें जो ऐसे वचन आते हैं, उन सबका तात्पर्य है कि कोई भी नीच वर्णवाला साधारण-से-साधारण मनुष्य अपनी पारमार्थिक उन्नति कर सकता है, इसमें संदेहकी कोई बात नहीं है। इतना ही नहीं, वह उसी वर्णमें रहता हुआ शम, दम आदि जो सामान्य धर्म हैं, उनका साङ्गोपाङ्ग पालन करता हुआ अपनी श्रेष्ठताको प्रकट कर सकता है। जन्म तो पूर्वकर्मोंके अनुसार हुआ है।* इसमें वह बेचारा क्या कर सकता है ? परन्तु वहीं (नीच वर्णमें) रहकर भी वह अपनी नयी उन्नति कर सकता है। उस नयी उन्नतिमें प्रोत्साहित करनेके लिये ही शास्त्र-वचनोंका आशय मालूम देता है कि नीच वर्णवाला भी नयी उन्नति करनेमें हिम्मत न हारे। जो ऊँचे वर्णवाला होकर भी वर्णोचित काम नहीं करता, उसको भी अपने वर्णोचित काम करनेके लिये शास्त्रोंमें प्रोत्साहित किया है; जैसे—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।'

(श्रीमद्भा० ११। १७। ४२)

जिन ब्राह्मणोंका खान-पान, आचरण सर्वथा भ्रष्ट है, उन ब्राह्मणोंका वचनमात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिये—ऐसा स्मृतिमें आया है (मनु० ४। ३०, १९२)। परन्तु जिनके आचरण

* सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(योगदर्शन २-१३)

वह भक्तिहीन विद्वान् ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है। *

ब्राह्मणको विराट्‌रूप भगवान्‌का मुख, क्षत्रियको हाथ, वैश्यको ऊरु (मध्यभाग) और शूद्रको पैर बताया गया है। ब्राह्मणको मुख बतानेका तात्पर्य है कि उनके पास ज्ञानका संग्रह है, इसलिये चारों वर्णोंको पढ़ाना, अच्छी शिक्षा देना और उपदेश सुनाना—यह

---

* १. अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भा० ३।३३।७)

'अहो! वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी जीभके अग्रभागपर आपका नाम विराजता है। जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—सब कुछ कर लिया।'

२. विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा० ७।९।१०)

'मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाभके चरण-कमलोंसे विमुख हो तो वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राणोंको भगवान्‌के अर्पण कर दिया है; क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है; परन्तु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला भगवद्विमुख ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।'

३. चाण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः।
विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचोऽधमः॥ (पद्मपुराण)

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है और हरिभक्तिसे रहित ब्राह्मण चाण्डालसे भी अधम है।'

४. अवैष्णवाद् द्विजाद् विप्र चाण्डालो वैष्णवो वरः।
सगणः श्वपचो मुक्तो ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्॥
(ब्रह्मवैवर्त०, ब्रह्म० ११।३९)

'अवैष्णव ब्राह्मणसे वैष्णव चाण्डाल श्रेष्ठ है; क्योंकि वह वैष्णव चाण्डाल अपने बन्धुगणोंसहित भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है और वह अवैष्णव ब्राह्मण नरकमें पड़ता है।'

५. न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने॥ (महाभारत)

'यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है।'

मुखका ही काम है। इस दृष्टिसे ब्राह्मण ऊँचे माने गये।

क्षत्रियको हाथ बतानेका तात्पर्य है कि वे चारों वर्णोंकी शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। रक्षा करना मुख्यरूपसे हाथोंका ही काम है; जैसे— शरीरमें फोड़ा-फुंसी आदि हो जाय तो हाथोंसे ही रक्षा की जाती है; शरीरपर चोट आती हो तो रक्षाके लिये हाथ ही आड़ देते हैं, और अपनी रक्षाके लिये दूसरोंपर हाथोंसे ही चोट पहुँचायी जाती है; आदमी कहीं गिरता है तो पहले हाथ ही टिकते हैं। इसलिये क्षत्रिय हाथ हो गये। अराजकता फैल जानेपर तो जन, धन आदिकी रक्षा करना चारों वर्णोंका धर्म हो जाता है।

वैश्यको मध्यभाग कहनेका तात्पर्य है कि जैसे पेटमें अन्न, जल, औषध आदि डाले जाते हैं तो उनसे शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंको खुराक मिलती है और सभी अवयव पुष्ट होते हैं, ऐसे ही वस्तुओंका संग्रह करना, उनका यातायात करना, जहाँ जिस चीजकी कमी हो वहाँ पहुँचाना, प्रजाको किसी चीजका अभाव न होने देना वैश्यका काम है। पेटमें अन्न-जलका संग्रह सब शरीरके

लिये होता है और साथमें पेटको भी पुष्टि मिल जाती है; क्योंकि मनुष्य केवल पेटके लिये पेट नहीं भरता। ऐसे ही वैश्य केवल दूसरोंके लिये ही संग्रह करे, केवल अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मण आदिको दान देता है, क्षत्रियोंको टैक्स देता है, अपना पालन करता है और शूद्रोंको मेहनताना देता है। इस प्रकार वह सबका पालन करता है। यदि वह संग्रह नहीं करेगा, कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य नहीं करेगा तो क्या देगा?

शूद्रको चरण बतानेका तात्पर्य है कि जैसे चरण सारे शरीरको उठाये फिरते हैं और पूरे शरीरकी सेवा चरणोंसे ही होती है, ऐसे ही सेवाके आधारपर ही चारों वर्ण चलते हैं। शूद्र अपने सेवा-कर्मके द्वारा सबके आवश्यक कार्योंकी पूर्ति करता है।

उपर्युक्त विवेचनमें एक ध्यान देनेकी बात है कि गीतामें चारों वर्णोंके उन स्वाभाविक कर्मोंका वर्णन है, जो कर्म स्वतः होते हैं अर्थात् उनको करनेमें अधिक परिश्रम नहीं पड़ता। चारों वर्णोंके लिये और भी दूसरे कर्मोंका विधान है, उनको स्मृति-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये और उनके अनुसार अपने आचरण बनाने चाहिये। यही बात गीताजीने कही है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६।२४)

अतः तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य कर्म करनेयोग्य है।'

वर्तमानमें चारों वर्णोंमें गड़बड़ी आ जानेपर भी यदि चारों

वर्णोंके समुदायोंको इकट्ठा करके अलग-अलग समुदायमें देखा जाय तो ब्राह्मण-समुदायमें शम, दम आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। क्षत्रिय-समुदायमें शौर्य, तेज आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। वैश्य-समुदायमें व्यापार करना, धनका उपार्जन करना, धनको पचाना (धनका भभका ऊपरसे न दीखने देना) आदि गुण जितने अधिक मिलेंगे, उतने ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र-समुदायमें नहीं मिलेंगे। शूद्र-समुदायमें सेवा करनेकी प्रवृत्ति जितनी अधिक मिलेगी, उतनी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-समुदायमें नहीं मिलेगी। तात्पर्य यह है कि आज सभी वर्ण मर्यादारहित और उच्छृङ्खल होनेपर भी उनके स्वभावज कर्म उनके समुदायोंमें विशेषतासे देखनेमें आते हैं अर्थात् यह चीज व्यक्तिगत न दीखकर समुदायगत देखनेमें आती है।

जो लोग शास्त्रके गहरे रहस्यको नहीं जानते, वे कह देते हैं कि ब्राह्मणोंके हाथमें कलम रही, इसलिये उन्होंने 'ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है' ऐसा लिखकर ब्राह्मणोंको सर्वोच्च कह दिया। जिनके पास राज्य था, उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज ! हमलोग कुछ नहीं हैं क्या? तो ब्राह्मणोंने कह दिया—नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं। आपलोग भी हैं, आपलोग दो नम्बरमें हैं। वैश्योंने ब्राह्मणोंसे कहा—क्यों महाराज ! हमारे बिना कैसे जीविका चलेगी आपकी ? ब्राह्मणोंने कहा—हाँ, हाँ, आपलोग तीसरे नम्बरमें हैं। जिनके पास न राज्य था, न धन था, वे ऊँचे उठने लगे तो ब्राह्मणोंने कह दिया—आपके भाग्यमें राज्य और धन

लिखा नहीं है। आपलोग तो इन ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंकी सेवा करो। इसलिये चौथे नम्बरमें आपलोग हैं। इस तरह सबको भुलावेमें डालकर विद्या, राज्य और धनके प्रभावसे अपनी एकता करके चौथे वर्णको पददलित कर दिया—यह लिखनेवालोंका अपना स्वार्थ और अभिमान ही है।

इसका समाधान यह है कि ब्राह्मणोंने कहीं भी अपने ब्राह्मण-धर्मके लिये ऐसा नहीं लिखा है कि ब्राह्मण सर्वोपरि हैं, इसलिये उनको बड़े आरामसे रहना चाहिये, धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर मौज करनी चाहिये इत्यादि, प्रत्युत ब्राह्मणोंके लिये ऐसा लिखा है कि उनको त्याग करना चाहिये, कष्ट सहना चाहिये; तपश्चर्या करनी चाहिये। गृहस्थमें रहते हुए भी उनको धन-संग्रह नहीं करना चाहिये, अन्नका संग्रह भी थोड़ा ही होना चाहिये—कुम्भीधान्य अर्थात् एक घड़ा भरा हुआ अनाज हो, लौकिक भोगोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, और जीवन-निर्वाहके लिये किसीसे दान भी लिया जाय तो उसका काम करके अर्थात् यज्ञ, होम, जप, पाठ आदि करके ही लेना चाहिये। गोदान आदि लिया जाय तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।

यदि कोई ब्राह्मणको श्राद्धका निमन्त्रण देना चाहे तो वह श्राद्धके पहले दिन दे, जिससे ब्राह्मण उसके पितरोंका अपनेमें आवाहन करके रात्रिमें ब्रह्मचर्य और संयमपूर्वक रह सके। दूसरे दिन वह यजमानके पितरोंका पिण्डदान, तर्पण ठीक विधि-विधानसे करवाये। उसके बाद वहाँ भोजन करे। निमन्त्रण भी एक ही यजमानका स्वीकार करे और भोजन भी एक ही घरका करे। श्राद्धका अन्न खानेके बाद गायत्री-जप आदि करके शुद्ध

होना चाहिये। दान लेना, श्राद्धका भोजन करना ब्राह्मणके लिये ऊँचा दर्जा नहीं है। ब्राह्मणका ऊँचा दर्जा त्यागमें है। वे केवल यजमानके पितरोंका कल्याण करनेकी भावनासे ही श्राद्धका भोजन और दक्षिणा स्वीकार करते हैं, स्वार्थकी भावनासे नहीं; अतः यह भी उनका त्याग ही है।

ब्राह्मणोंने अपनी जीविकाके लिये ऋत, अमृत, मृत, सत्यानृत और प्रमृत—ये पाँच वृत्तियाँ बतायी हैं *—

(१) ऋत-वृत्ति सर्वोच्च वृत्ति मानी गयी है। इसको शिलोञ्छ या कपोत-वृत्ति भी कहते हैं। खेती करनेवाले खेतमेंसे धान काटकर ले जायँ, उसके बाद वहाँ जो अन्न (ऊमी, सिट्टा आदि) पृथ्वीपर गिरा पड़ा हो, वह भूदेवों (ब्राह्मणों) का होता है; अतः उनको चुनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छवृत्ति' है अथवा धान्यमण्डीमें जहाँ धान्य तौला जाता है, वहाँ पृथ्वीपर गिरे हुए दाने भूदेवोंके होते हैं; अतः उनको चुनकर जीवन-निर्वाह करना 'कपोतवृत्ति' है।

(२) बिना याचना किये और बिना इशारा किये कोई यजमान आकर देता है तो निर्वाहमात्रकी वस्तु लेना 'अमृत-वृत्ति' है। इसको 'अयाचितवृत्ति' भी कहते हैं।

(३) सुबह भिक्षाके लिये गाँवमें जाना और लोगोंको वार, तिथि, मुहूर्त आदि बताकर (इस रूपमें काम करके)

---

* ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ (मनुस्मृति ४।४)

'ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृत—इनमेंसे किसी भी वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे; परन्तु श्वानवृत्ति अर्थात् सेवावृत्तिसे कभी भी जीवन-निर्वाह न करे।'

भिक्षामें जो कुछ मिल जाय, उसीसे अपना जीवन-निर्वाह करना 'मृत-वृत्ति' है।

(४) व्यापार करके जीवन-निर्वाह करना 'सत्यानृत-वृत्ति' है।

(५) उपर्युक्त चारों वृत्तियोंसे जीवन-निर्वाह न हो तो खेती करे पर वह भी कठोर विधि-विधानसे करे; जैसे—एक बैलसे हल न चलाये, धूपके समय हल न चलाये आदि, यह 'प्रमृतवृत्ति' है।

उपर्युक्त वृत्तियोंमेंसे किसी भी वृत्तिसे निर्वाह किया जाय, उसमें पञ्चमहायज्ञ, अतिथि-सेवा करके यज्ञशेष भोजन करना चाहिये।*

श्रीमद्भगवद्गीतापर विचार करते हैं तो ब्राह्मणके लिये पालनीय जो नौ स्वाभाविक धर्म बताये गये हैं, उनमें जीविका पैदा करनेवाला एक भी धर्म नहीं है। क्षत्रियके लिये सात स्वाभाविक धर्म बताये हैं। उनमें युद्ध करना और शासन करना—ये दो धर्म कुछ जीविका पैदा करनेवाले हैं। वैश्यके लिये तीन धर्म बताये हैं—खेती, गोरक्षा और व्यापार; ये तीनों ही जीविका पैदा

* ब्राह्मण और क्षत्रियके लिये यह निषेध आया है कि वह श्ववृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति कभी न करे—'न श्ववृत्त्या कदाचन' (मनु० ४।४), 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' (मनु० ४।६)। वास्तवमें सेवावृत्तिका ही निषेध किया गया है, सेवाका नहीं। माता-पिताकी तरह वे नीच-से-नीच वर्णकी नीची-से-नीची सेवा कर सकते हैं। नीच वर्णोंकी सेवा करनेमें उनकी महत्ता ही है। इसलिये वृत्तिकी ही निन्दा की गयी है। मान, बड़ाई, उपार्जन आदि स्वार्थके लिये सेवा करनेकी निन्दा है, स्वार्थका त्याग करके सेवा करनेकी निन्दा नहीं है।

करनेवाले हैं। शूद्रके लिये एक सेवा ही धर्म बताया है, जिसमें पैदा-ही-पैदा होती है। शूद्रके लिये खान-पान, जीवन-निर्वाह आदिमें भी बहुत छूट दी गयी है।

भगवान्‌ने **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'** (गीता १८। ४५) पदोंसे कितनी विचित्र बात बतायी है कि शम, दम आदि नौ धर्मोंके पालनसे ब्राह्मणका जो कल्याण होता है, वही कल्याण शौर्य, तेज आदि सात धर्मोंके पालनसे क्षत्रियका होता है, वही कल्याण खेती, गोरक्षा और व्यापारके पालनसे वैश्यका होता है और वही कल्याण केवल सेवा करनेसे शूद्रका हो जाता है।

आगे भगवान्‌ने एक विलक्षण बात बतायी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने वर्णोचित कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके परम सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं— **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** (१८। ४६) वास्तवमें कल्याण वर्णोचित कर्मोंसे नहीं होता, प्रत्युत निष्कामभावपूर्वक पूजनसे ही होता है। शूद्रका तो स्वाभाविक कर्म ही परिचर्यात्मक अर्थात् पूजनरूप है; अतः उसका पूजनके द्वारा पूजन होता है अर्थात् उसके द्वारा दुगुनी पूजा होती है! इसलिये उसका कल्याण जितनी जल्दी होगा, उतनी जल्दी ब्राह्मण आदिका नहीं होगा।

शास्त्रकारोंने उद्धार करनेमें छोटेको ज्यादा प्यार दिया है; क्योंकि छोटा प्यारका पात्र होता है और बड़ा अधिकारका पात्र होता है। बड़ेपर चिन्ता-फिक्र ज्यादा रहती है, छोटेपर कुछ भी भार नहीं रहता। शूद्रको भाररहित करके उसकी जीविका बतायी

गयी है और प्यार भी दिया गया है।

वास्तवमें देखा जाय तो जो वर्ण-आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये शास्त्रोंके अनुसार उतने ही कठिन नियम होते हैं। उन नियमोंका साङ्गोपाङ्ग पालन करनेमें कठिनता अधिक मालूम देती है। परन्तु जो वर्ण-आश्रममें नीचा होता है, उसका कल्याण सुगमतासे हो जाता है। इस विषयमें विष्णुपुराणमें एक कथा आती है—एक बार बहुत-से ऋषि-मुनि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करनेके लिये भगवान् वेदव्यासजीके पास गये। व्यासजीने सबको आदरपूर्वक बिठाया और स्वयं गङ्गामें स्नान करने चले गये। गङ्गामें स्नान करते हुए उन्होंने कहा—'कलियुग, तुम धन्य हो ! स्त्रियो, तुम धन्य हो ! शूद्रो, तुम धन्य हो ! जब व्यासजी स्नान करके ऋषियोंके पास आये तो ऋषियोंने कहा—महाराज ! आपने कलियुग, स्त्रियों और शूद्रोंको धन्यवाद कैसे दिया ! तो उन्होंने कहा कि कलियुगमें अपने धर्मका पालन करनेसे स्त्रियों और शूद्रोंका कल्याण जल्दी और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

यहाँ एक और बात सोचनेकी है कि जो अपने स्वार्थका काम करता है, वह समाजमें और संसारमें आदरका पात्र नहीं होता। समाजमें ही नहीं, घरमें भी जो व्यक्ति पेटू और चट्टू होता है, उसकी दूसरे निन्दा करते हैं। ब्राह्मणोंने स्वार्थ-दृष्टिसे अपने ही मुँहसे अपनी (ब्राह्मणोंकी) प्रशंसा, श्रेष्ठताकी बात नहीं कही है। उन्होंने ब्राह्मणोंके लिये त्याग ही बताया है। सात्त्विक मनुष्य अपनी प्रशंसा नहीं करते, प्रत्युत दूसरोंकी प्रशंसा, दूसरोंका आदर करते हैं। तात्पर्य है कि ब्राह्मणोंने कभी अपने स्वार्थ और अभिमानकी बात नहीं कही। यदि वे स्वार्थ और अभिमानकी बात

कहते तो वे इतने आदरणीय नहीं होते, संसारमें और शास्त्रोंमें आदर न पाते। वे जो आदर पाते हैं, वह त्यागसे ही पाते हैं।

इस प्रकार मनुष्यको शास्त्रोंका गहरा अध्ययन करके उपर्युक्त सभी बातोंको समझना चाहिये और ऋषि-मुनियोंपर, शास्त्रकारोंपर झूठा आक्षेप नहीं करना चाहिये।

ऊँच-नीच वर्णोंमें प्राणियोंका जन्म मुख्यरूपसे गुणों और कर्मोंके अनुसार होता है—'**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**' (गीता ४। १३); परन्तु ऋणानुबन्ध, शाप, वरदान, सङ्ग आदि किसी कारणविशेषसे भी ऊँच-नीच वर्णोंमें जन्म हो जाता है। उन वर्णोंमें जन्म होनेपर भी वे अपने पूर्व स्वभावके अनुसार ही आचरण करते हैं। यही कारण है कि ऊँचे वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी उनके नीच आचरण देखे जाते हैं, जैसे धुन्धुकारी आदि; और नीच वर्णमें उत्पन्न होनेपर भी वे महापुरुष होते हैं, जैसे विदुर, कबीर, रैदास आदि।

आज जिस समुदायमें जातिगत, कुलपरम्परागत, समाजगत और व्यक्तिगत जो भी शास्त्र-विपरीत दोष आये हैं, उनको अपने विवेक-विचार, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदिके द्वारा दूर करके अपनेमें स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता लानी चाहिये, जिससे अपने मनुष्यजन्मका ध्येय सिद्ध हो सके।

(गीता १८। ४४ की व्याख्यासे)

—★—

अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन

मनुस्मृतिमें ब्राह्मणोंके लिये छः कर्म बताये गये हैं—स्वयं पढ़ना और दूसरोंको पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना और दूसरोंसे यज्ञ कराना तथा स्वयं दान लेना और दूसरोंको दान देना* (इनमें पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये तीन कर्म जीविकाके हैं और पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना—ये तीन कर्तव्यकर्म हैं)। उपर्युक्त शास्त्रनियत छः कर्म और शम-दम आदि नौ स्वभावज कर्म तथा इनके अतिरिक्त खाना-पीना, उठना-बैठना आदि जितने भी कर्म हैं, उन कर्मोंके द्वारा ब्राह्मण चारों वर्णोंमें व्याप्त परमात्माका पूजन करें। तात्पर्य है कि परमात्माकी आज्ञासे, उनकी प्रसन्नताके लिये ही भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

ऐसे ही क्षत्रियोंके लिये पाँच कर्म बताये गये हैं—प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना और विषयोंमें आसक्त न होना।† इन पाँच कर्मों तथा शौर्य, तेज आदि सात स्वभावज कर्मोंके द्वारा और खाना-पीना आदि सभी कर्मोंके द्वारा क्षत्रिय सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें।

---

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ (मनु० १।८८)

† प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु० १।८९)

वैश्य यज्ञ करना, अध्ययन करना, दान देना और ब्याज लेना तथा कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य*—इन शास्त्रनियत और स्वभावज कर्मोंके द्वारा और शूद्र शास्त्रविहित तथा स्वभावज कर्म सेवाके† द्वारा सर्वत्र व्यापक परमात्माका पूजन करें अर्थात् अपने शास्त्रविहित, स्वभावज और खाना-पीना, सोना-जागना आदि सभी कर्मोंके द्वारा भगवान्की आज्ञासे, भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवद्बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक सबकी सेवा करें।

शास्त्रोंमें मनुष्यके लिये अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार जो-जो कर्तव्य-कर्म बताये गये हैं, वे सब संसाररूप परमात्माकी पूजाके लिये ही हैं। अगर साधक अपने कर्मोंके द्वारा भावसे उस परमात्माका पूजन करता है तो उसकी मात्र क्रियाएँ परमात्माकी पूजा हो जाती हैं। जैसे, पितामह भीष्मने (अर्जुनके साथ युद्ध करते हुए) अर्जुनके सारथि बने हुए भगवान्की अपने युद्धरूप कर्मके द्वारा (बाणोंसे) पूजा की। भीष्मके बाणोंसे भगवान्का कवच टूट गया, जिससे भगवान्के शरीरमें घाव हो गये और हाथकी अंगुलियोंमें छोटे-छोटे बाण लगनेसे अंगुलियोंसे लगाम पकड़ना कठिन हो गया। ऐसी पूजा करके अन्त समयमें शरशय्यापर पड़े हुए पितामह भीष्म अपने बाणोंद्वारा पूजित भगवान्का ध्यान करते हैं—'युद्धमें मेरे तीखे बाणोंसे जिनका कवच टूट गया है, जिनकी त्वचा विच्छिन्न हो गयी है, परिश्रमके

---

* पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ (मनु० १। ९०)

† एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ (मनु० १। ९१)

कारण जिनके मुखपर स्वेदकण सुशोभित हो रहे हैं, घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई रज जिनकी सुन्दर अलकावलिमें लगी हुई है, इस प्रकार बाणोंसे अलंकृत भगवान् कृष्णमें मेरे मन-बुद्धि लग जायँ।*'

लौकिक और पारमार्थिक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माका पूजन तो करना चाहिये, पर उन कर्मोंमें और उनको करनेके करणों-उपकरणोंमें ममता नहीं रखनी चाहिये। कारण कि जिन वस्तुओं, क्रियाओं आदिमें ममता हो जाती है, वे सभी चीजें अपवित्र हो जानेसे† पूजा-सामग्री नहीं रहतीं (अपवित्र फल, फूल आदि भगवान्‌पर नहीं चढ़ते)। इसलिये 'मेरे पास जो कुछ है, वह सब उस सर्वव्यापक परमात्माका ही है, मुझे तो केवल निमित्त बनकर 'उनकी दी हुई शक्तिसे उनका पूजन करना है'— इस भावसे जो कुछ किया जाय, वह सब-का-सब परमात्माका पूजन हो जाता है। इसके विपरीत उन क्रियाओं, वस्तुओं आदिको मनुष्य जितनी अपनी मान लेता है, उतनी ही वे (अपनी मानी हुई) क्रियाएँ, वस्तुएँ (अपवित्र होनेसे) परमात्माके पूजनसे वञ्चित रह जाती हैं।

(गीता १८।४६ की व्याख्यासे)

* युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
(श्रीमद्भा० १।९।३४)

† 'ममता मल जरि जाइ' (मानस ७।११७ क)

समता कैसे करें ?

आजकल समतापर विशेष चर्चा चल रही है। सबके साथ समताका बर्ताव करो—ऐसा प्रचार किया जा रहा है। परन्तु वास्तवमें समता किसे कहते हैं और वह कब आती है—इसे समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

समता कोई खेल-तमाशा नहीं है, प्रत्युत परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। जिनका मन समतामें स्थित हो जाता है, वे यहाँ जीते-जी ही संसारपर विजय प्राप्त कर लेते हैं और परब्रह्म परमात्माका अनुभव कर लेते हैं *। यह समता तब आती है, जब दूसरोंका दुःख अपना दुःख और दूसरोंका सुख अपना सुख हो जाता है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(६।३२)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष अपने शरीरकी तरह सब जगह सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सब जगह सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

जैसे शरीरके किसी भी अङ्गमें पीड़ा होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाती है, ऐसे ही किसी प्राणीको दुःख, सन्ताप आदि होनेपर उसको दूर करनेकी लगन लग जाय, तब समता आती है। सन्तोंके लक्षणोंमें भी आया है—

---

* इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ (गीता ५।१९)

'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' ॥ (मानस ७। ३८। १)

जबतक अपने सुखकी लालसा है, तबतक चाहे जितना उद्योग कर लें, समता नहीं आयेगी। परन्तु जब हृदयसे यह लगन लग जायगी कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे? उनको आराम कैसे हो? उनको लाभ कैसे हो? उनका कल्याण कैसे हो? तब समता स्वतः आ जायगी। इसका आरम्भ सर्वप्रथम अपने घरसे करना चाहिये। हृदयमें ऐसा भाव हो कि किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख या कष्ट न पहुँचे, किसीका कभी अनिष्ट न हो। चाहे मैं कितना ही कष्ट पाऊँ पर मेरे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदिको सुख होना चाहिये। घरवालोंको सुख पहुँचानेसे अपने हृदयमें शान्ति आयेगी ही। जहाँ अपने घरका भी सम्बन्ध नहीं है, वहाँ सुख पहुँचायेंगे तो विशेष आनन्दकी लहरें आने लग जायँगी। परन्तु ममतापूर्वक सुख पहुँचानेसे हमारी उन्नति नहीं होगी। जहाँ हमारी ममता न हो, वहाँ सुख पहुँचायें अथवा जहाँ हम ममतापूर्वक सुख पहुँचाते हैं, वहाँसे अपनी ममता हटा लें—दोनोंका परिणाम एक ही होगा।

चित्रकूटमें लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताकी सेवा कैसे करते हैं, यह बताते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि ॥

(मानस २। १४२। १)

अर्थात् लक्ष्मणजी भगवान् राम और सीताजीकी वैसे ही सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी मनुष्य अपने शरीरकी सेवा करता है। अपने शरीरकी सेवा करना, उसे सुख पहुँचाना समझदारी नहीं है। अपने शरीरकी सेवा तो पशु भी करते हैं। जैसे, बँदरीकी अपने

बच्चेपर इतनी ममता रहती है कि उसके मरनेके बाद भी वह उसके शरीरको पकड़े हुए चलती है, छोड़ती नहीं। परन्तु जब कोई वस्तु खानेके लिये मिल जाती है, तब वह स्वयं तो खा लेती है पर बच्चेको नहीं खाने देती। बच्चा खानेकी चेष्टा करता है तो उसे ऐसी घुड़की मारती है कि वह चीं-चीं करते भाग जाता है। अतः ममताके रहते हुए समताका आना असम्भव है।

जिससे हमें कुछ लेना नहीं है, जिससे हमारा कोई स्वार्थ नहीं है, ऐसे व्यक्तिके साथ भी हम प्रेमपूर्वक अच्छा-से-अच्छा बर्ताव करें, जिससे उसका हित हो। कोई व्यक्ति मार्गमें भटक गया है, उसे मार्गका पता नहीं है और वह हमसे पूछता है। हम उसे बड़ी प्रसन्नतासे मार्ग बतायें अथवा कुछ दूरतक उसके साथ चलें तो हमें हृदयमें प्रत्यक्ष सुखका, शान्तिका अनुभव होगा। परन्तु यदि हम जानते हुए भी उसे मार्ग नहीं बतायेंगे तो हमारे हृदयमें सुख नहीं होगा। यह अनुभवकी बात है, कोई करके देख ले। किसीको प्यास लगी है तो उसे बता दे कि भाई, इधर आओ, इधर ठण्डा जल है। फिर हम अपना हृदय देखें। हमारे हृदयमें प्रसन्नता आयेगी, सुख आयेगा। यह सुख हमारा कल्याण करनेवाला है। दूसरा दुःख पाये पर मैं सुख ले लूँ—यह सुख पतन करनेवाला है। इससे न तो व्यवहारमें हमारी उन्नति होगी और न परमार्थमें। हम सत्सङ्गका आयोजन करते हैं। उसमें आनेवाले व्यक्तियोंके बैठनेकी व्यवस्था करते हैं तो उनसे प्रेमपूर्वक कहें कि आइये, यहाँ बैठिये। उन्हें वहाँ बैठायें, जहाँसे वे ठीक तरहसे सुन सकें। वे आरामसे कैसे बैठ सकें ? ठीक तरहसे कैसे सुन सकें—ऐसा भाव रखकर उनसे बर्ताव करें। ऐसा करनेसे हमारे हृदयमें प्रत्यक्ष

शान्ति आयेगी। पर वहीं हुक्म चलायें कि क्या करते हो ? इधर बैठो, इधर नहीं तो बात वही होनेपर भी हृदयमें शान्ति नहीं आयेगी। भीतरमें जो अभिमान है, वह दूसरोंको चुभेगा, बुरा लगेगा। ऐसा बर्ताव करें और चाहें कि समता आ जाय तो वह कभी आयेगी नहीं।

सबके हितमें जिसकी प्रीति हो गयी है, उन्हें भगवान् प्राप्त हो जाते हैं—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२।४)। कारण कि भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं (गीता ५।२९)। वे प्राणिमात्रका पालन-पोषण करनेवाले हैं। आस्तिक-से-आस्तिक हो अथवा नास्तिक-से-नास्तिक, दोनोंके लिये भगवान्का विधान बराबर है। एक व्यक्ति बड़ा आस्तिक है, भगवान्को बहुत मानता है और उन्हें पानेके लिये साधन-भजन करता है और एक व्यक्ति ऐसा नास्तिक है कि संसारसे भगवान्का खाता उठा देना चाहता है। भगवान्को माननेसे और भगवान्के कारण ही दुनिया दुःख पा रही है, भगवान् नामकी कोई चीज है ही नहीं—ऐसा उसके हृदयमें भाव है और ऐसा ही प्रचार करता है। ऐसे नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिकी भी प्यास जल मिटाता है और वही जल आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिकी भी प्यास मिटाता है। जलमें यह भेद नहीं है कि वह आस्तिककी प्यास ठीक तरहसे शान्त करे और नास्तिककी प्यास शान्त न करे। वह समान रीतिसे सबकी प्यास मिटाता है। ऐसे ही सूर्य समान रीतिसे सबको प्रकाश देता है, हवा समान रीतिसे सबको श्वास लेने देती है, पृथ्वी समान रीतिसे सबको रहनेका स्थान देती है। इस प्रकार भगवान्की रची हुई प्रत्येक वस्तु सबको समान रीतिसे मिलती है।

समताका अर्थ यह नहीं है कि समान रीतिसे सबके साथ रोटी-बेटी (भोजन और विवाह) का बर्ताव करें। व्यवहारमें समता तो महान् पतन करनेवाली चीज है। समान बर्ताव यमराजका, मौतका नाम है; क्योंकि उसके बर्तावमें विषमता नहीं होती। चाहे महात्मा हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो, चाहे पशु हो, चाहे देवता हो, मौत सबकी बराबर होती है। इसलिये यमराजको 'समवर्ती' (समान बर्ताव करनेवाला) कहा गया है *। अतः जो समान बर्ताव करते हैं, वे भी यमराज हैं।

पशुओंमें भी समान बर्ताव पाया जाता है। कुत्ता ब्राह्मणकी रसोईमें जाता है तो पैर धोकर नहीं जाता। ब्राह्मणकी रसोई हो अथवा हरिजनकी, वह तो जैसा है, वैसा ही चला जाता है; क्योंकि यह उसकी समता है। पर मनुष्यके लिये यह समता नहीं है, प्रत्युत महान् है। समता तो यह है कि दूसरेका दुःख कैसे मिटे, दूसरेको सुख कैसे हो, आराम कैसे हो। ऐसी समता रखते हुए बर्तावमें पवित्रता, निर्मलता रखनी चाहिये। बर्तावमें पवित्रता रखनेसे अन्तःकरण पवित्र, निर्मल होता है। परंतु बर्तावमें अपवित्रता रखनेसे, खान-पान आदि एक करनेसे अन्तःकरणमें अपवित्रता आती है, जिससे अशान्ति बढ़ती है। केवल बाहरका बर्ताव समान रखना शास्त्र और समाजकी मर्यादाके विरुद्ध है। इससे समाजमें संघर्ष पैदा होता है।

वर्णोंमें ब्राह्मण ऊँचे हैं और शूद्र नीचे हैं—ऐसा शास्त्रोंका सिद्धान्त नहीं है। ब्राह्मण उपदेशके द्वारा, क्षत्रिय रक्षाके द्वारा,

---

* 'समवर्ती परेतराट्' (अमरकोष १ । १ । ५८)

वैश्य धन-सम्पत्ति, आवश्यक वस्तुओंके द्वारा और शूद्र शरीरसे परिश्रम करके सभी वर्णोंकी सेवा करे। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे अपने कर्तव्य-पालनमें परिश्रम न करें, प्रत्युत अपने कर्तव्य-पालनमें समान रीतिसे सभी परिश्रम करें। जिसके पास जिस प्रकारकी शक्ति, विद्या, वस्तु, कला आदि है, उसके द्वारा चारों ही वर्ण चारों वर्णोंकी सेवा करें, उनके कार्योंमें सहायक बनें। परन्तु चारों वर्णोंकी सेवा करनेमें भेदभाव न रखें।

आजकल वर्णाश्रमको मिटाकर पार्टीबाजी हो रही है। आज वर्णाश्रममें इतनी लड़ाई नहीं है, जितनी लड़ाई पार्टीबाजीमें हो रही है—यह प्रत्यक्ष बात है। पहले लोग चारों वर्णों और आश्रमोंकी मर्यादामें चलते थे और सुख-शान्तिपूर्वक रहते थे। आज वर्णाश्रमकी मर्यादाको मिटाकर अनेक पार्टियाँ बनायी जा रही हैं, जिससे संघर्षको बढ़ावा मिल रहा है। गाँवोंमें सब लोगोंको पानी मिलना कठिन हो रहा है। जिनके अधिकारमें कुआँ है, वे कहते हैं कि तुमने उस पार्टीको वोट दिया है, इसलिये तुम यहाँसे पानी नहीं भर सकते। माँ, बाप और बेटा—तीनों अलग-अलग पार्टियोंको वोट देते हैं और घरमें लड़ते हैं। भीतरमें वैर बाँध लिया कि तुम उस पार्टीके और हम इस पार्टीके। कितना महान् अनर्थ हो रहा है!

यदि समता लानी हो तो दूसरा व्यक्ति किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय, मत आदिका क्यों न हो, उसे सुख देना है, उसका दुःख दूर करना है और उसका वास्तविक हित करना है। उनमें यह भेद हो सकता है कि आप राम-राम कहते हैं, हम कृष्ण-कृष्ण कहेंगे; आप वैष्णव हैं, हम शैव हैं; आप मुसलमान

हैं, हम हिन्दू हैं, इत्यादि। परन्तु इससे कोई बाधा नहीं आती है। बाधा तब आती है, जब यह भाव रहता है कि वे हमारी पार्टीके नहीं हैं, इसलिये उनको चाहे दुःख होता रहे पर हमें और हमारी पार्टीवालोंको सुख हो जाय। यह भाव महान् पतन करनेवाला है। इसलिये कभी किसी वर्ण आदिके मनुष्योंको कष्ट हो तो उनके हितकी चिन्ता समान रीतिसे होनी चाहिये और उन्हें सुख हो तो उससे प्रसन्नता समान रीतिसे होनी चाहिये। जैसे, ब्राह्मणों और हरिजनोंमें संघर्ष हुआ। उसमें हरिजनोंकी हार और ब्राह्मणोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें प्रसन्नता हो अथवा ब्राह्मणोंकी हार और हरिजनोंकी जीत होनेपर हमारे मनमें दुःख हो तो यह विषमता है, जो बहुत हानिकारक है। ब्राह्मणों और हरिजनों—दोनोंके प्रति ही हमारे मनमें हितकी समान भावना होनी चाहिये। किसीका भी अहित हमें सहन न हो। किसीका भी दुःख हमें समान रीतिसे खटकना चाहिये। यदि ब्राह्मण दुःखी है तो उसे सुख पहुँचायें और यदि हरिजन दुःखी है तो उसे सुख न पहुँचायें—ऐसा पक्षपात नहीं होना चाहिये, प्रत्युत हरिजनको सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा होनी चाहिये। हरिजनोंको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करते हुए भी ब्राह्मणोंके दुःखकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिको लेकर पक्षपात नहीं होना चाहिये। सभीके प्रति समान रीतिसे हितका बर्ताव होना चाहिये। यदि कोई निम्नवर्ग है और उसे हम ऊँचा उठाना चाहते हों तो उस वर्गके लोगोंके भावों और आचरणोंको शुद्ध और श्रेष्ठ बनाना चाहिये; उनके पास वस्तुओंकी कमी हो तो उसकी पूर्ति करनी चाहिये; उनकी सहायता करनी चाहिये; परन्तु उन्हें उकसाकर

उनके हृदयोंमें दूसरे वर्गके प्रति ईर्ष्या और द्वेषके भाव भर देना अत्यन्त ही अहितकर, घातक है तथा लोक-परलोकमें पतन करनेवाला है। कारण कि ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि मनुष्यका महान् पतन करनेवाले हैं। यदि ऐसे भाव ब्राह्मणोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा और हरिजनोंमें हैं तो उनका भी पतन होगा। उत्थान तो सद्भावों, सद्गुणों, सदाचारोंसे ही होता है।

भोजन, वस्त्र, मकान आदि निर्वाहकी वस्तुओंकी जिनके पास कमी है, उन्हें ये वस्तुएँ विशेषतासे देनी चाहिये, चाहे वे किसी भी वर्ण, आश्रम, धर्म, सम्प्रदाय आदिके क्यों न हों। सबका जीवन-यापन सुखपूर्वक होना चाहिये। सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभीका हित हो, कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो *—ऐसा भाव रखते हुए यथायोग्य बर्ताव करना ही समता है, जो सम्पूर्ण मनुष्योंके लिये हितकर है।

गीतामें भगवान् कहते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५।१८)

'ज्ञानी महापुरुष विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणमें और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें भी समरूप परमात्माको देखनेवाले होते हैं।'

ब्राह्मण और चाण्डालमें तथा गाय, हाथी एवं कुत्तेमें व्यवहारकी विषमता अनिवार्य है। इनमें समान बर्ताव शास्त्र भी

---

* सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

नहीं कहता, उचित भी नहीं और कर सकते भी नहीं। जैसे पूजन विद्या-विनययुक्त ब्राह्मणका ही हो सकता है न कि चाण्डालका; दूध गायका ही पीया जाता है, न कि कुतियाका; सवारी हाथीकी ही हो सकती है न कि कुत्तेकी। इन पाँचों प्राणियोंका उदाहरण देकर भगवान् मानो यह कह रहे हैं कि इनमें व्यवहारकी समता सम्भव न होनेपर भी तत्त्वतः सबमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। महापुरुषोंकी दृष्टि उस परमात्मतत्त्वपर ही सदा-सर्वदा रहती है। इसलिये उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि दृष्टि विषम हुए बिना व्यवहारमें भिन्नता कैसे होगी ? इसका समाधान यह है कि अपने शरीरके सब अङ्गों-(मस्तक, पैर, हाथ, गुदा आदि) में हमारी दृष्टि अर्थात् अपनेपन और हितकी भावना समान रहती है, फिर भी हम उनके व्यवहारमें भेद रखते हैं; जैसे—किसीको पैर लग जाय तो क्षमा-याचना करते हैं पर किसीको हाथ लग जाय तो क्षमा-याचना नहीं करते। प्रणाम मस्तक और हाथोंसे करते हैं, पैरोंसे नहीं। गुदासे हाथ लगनेपर हाथ धोते हैं, हाथसे हाथ लगनेपर नहीं। इतना ही नहीं एक हाथकी अंगुलियोंमें भी व्यवहारमें भेद रहता है। किसीको तर्जनी अंगुली दिखाने और अँगूठा दिखानेका भेद तो सब जानते ही हैं। इस प्रकार शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंके व्यवहारमें तो भेद होता है पर आत्मीयतामें भेद नहीं होता। इसलिये शरीरके किसी भी पीड़ित अङ्गकी उपेक्षा नहीं होती। व्यवहारमें भेद होनेपर भी पीड़ा मिटानेमें हम समानताका व्यवहार करते हैं। शरीरके सभी अङ्गोंके सुख-दुःखमें हमारा एक ही भाव रहता है। इसी प्रकार प्राणियोंमें खान-पान, गुण, आचरण, जाति

आदिका भेद होनेसे उनके साथ ज्ञानी महापुरुषोंके व्यवहारमें भी भेद होता है और होना भी चाहिये। परंतु उन सब प्राणियोंमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण होनेके कारण महापुरुषकी दृष्टिमें भेद नहीं होता। उन प्राणियोंके प्रति महापुरुषकी आत्मीयता, प्रेम, हित, दया आदिके भावमें कभी फरक नहीं पड़ता। उनके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, ममता, आसक्ति, अभिमान, पक्षपात, विषमता आदिका सर्वथा अभाव होता है। जैसे अपने शरीरके किसी अङ्गका दुःख दूर करनेकी चेष्टा स्वाभाविक होती है, वैसे ही पता लगनेपर दूसरे प्राणीका दुःख दूर करनेकी और उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा भी उनके द्वारा स्वाभाविक होती है। यही कारण है कि भगवान्‌ने यहाँ महापुरुषोंको समदर्शी कहा है, न कि समवर्ती। गीतामें दूसरी जगह भी सम देखनेकी या समबुद्धिकी ही बात आयी है; जैसे—**'समबुद्धिर्विशिष्यते'** (६।९); **'सर्वत्र समदर्शनः'** (६।२९); **'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति'** (६।३२); **'सर्वत्र समबुद्धयः'** (१२।४); **'समं सर्वेषु भूतेषु........ यः पश्यति स पश्यति'** (१३।२७); और **'समं पश्यन् हि सर्वत्र'** (१३।२८)।

श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज कहते हैं—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कुत्रचित्।

(तत्त्वोपदेश)

'भावमें ही सदा अद्वैत होना चाहिये, क्रिया—(व्यवहार) में कहीं नहीं'।

(गीता ५।१८ की व्याख्यासे)

— ★ —

आँख और पेटकी बीमारी

सभी मनुष्योंमें दो तरहकी बीमारी है—आँखकी बीमारी और पेटकी बीमारी। आँखकी बीमारी क्या है ?

इस दुनियामें एक अँधेरा, सबकी आँखमें जो छाया।
जिसके कारण सूझ पड़े नहीं, कौन हूँ मैं कहाँसे आया॥
कौन दिशाको जाना मुझको, किसको देख मैं ललचाया।
कौन है मालिक इस दुनियाका, किसने रची है यह माया॥

और पेटकी बीमारी क्या है ?

इस दुनियामें एक कूप है, जिसका पार कोई नहीं पावै।
जिसको भरने कारण प्राणी, देश दिगन्तरको जावै॥
दीन भये पर घरमें जाकर, सेवा कर कर मर जावै।
भजन ध्यान चिन्तन ईश्वरका, जिसके कारण बिसरावै॥

इस विषयमें एक कहानी है। एक वैद्य रहते थे। उनके पास एक रोगी पहुँचा। उसने वैद्यसे कहा कि मेरी आँखमें बड़ी पीड़ा हो रही है और पेटमें भी पीड़ा हो रही है। वैद्यने उसको लिटाकर उसका पेट देखा और आँख देखी। इतनेमें एक दूसरा रोगी आया। उसने भी कहा कि मेरी आँखमें और पेटमें बड़ी पीड़ा हो रही है। वैद्यने विचार किया कि यह कैसी हवा चली है, सबको एक ही बीमारी ! वैद्यने दोनों रोगियोंके लिये अलग-अलग दवा लिख दी और कहा कि कम्पाउण्डरसे दवा ले लो। कम्पाउण्डरने दोनोंको

दवाकी दो-दो पुड़िया बनाकर दे दी, एक आँखके लिये और एक पेटके लिये। वैद्यने समझा दिया कि देखो, यह आँखमें डालनेकी पुड़िया है। इसको रातमें सोते समय आँखमें डालना और बार-बार पलक झपकाना, जिससे आँखमें गरम-गरम पानी निकल जायगा। फिर सो जाना। इससे आँख ठीक हो जायगी। यह दूसरी पुड़िया पेटके लिये है। इसको एक पाव जलमें डालकर आगपर रख देना। जब जल एक छटाक रह जाय, तब वह काढ़ा छानकर पी लेना। इससे पेट ठीक हो जायगा और दस्त लगनेसे आँखमें भी लाभ होगा।

दोनों रोगी दवा लेकर चले गये। घर जाकर एक रोगीने तो ठीक वैसा ही किया, जैसा वैद्यने कहा था। आँखकी दवा आँखमें डाल दी और पेटकी दवा पेटमें। परन्तु दूसरे रोगीने पुड़िया उलट दी! उसने पेटकी दवा आँखमें डाल दी और आँखकी दवा पेटमें डाल दी। आँखमें थोड़ा-सा कचरा भी पड़ जाय तो पीड़ा होने लगती है, पर उसने पेटका चूर्ण आँखमें डाल दिया! इससे आँखकी पीड़ा बढ़ गयी! आँखकी दवा ठण्डी होती है, वह पेटमें चली गयी तो पेटकी पीड़ा भी बढ़ गयी! अब वह वैद्यको गाली देने लगा कि तेरे बापको मैंने मारा था क्या? वह तो अपनी मौत मरा था। फिर मेरेसे किस दिनका बदला लिया है! दूसरे दिन वह दवाख़ाना खुलनेसे पहले ही वहाँ जा बैठा। वैद्यजी आये और दवाखाना खोलकर उससे पूछा—कहो, कैसे हो?

वह बोला—कैसे क्या हूँ!

वैद्यने कहा—अरे, क्या हुआ?

वह बोला—हुआ क्या, जो तुमने किया, वही हुआ!

वैद्यने कहा—हमने क्या किया ?

वह बोला—ऐसी दवा दे दी कि मेरी आँखकी पीड़ा भी बढ़ गयी और पेटकी पीड़ा भी बढ़ गयी ! साफ कह देते कि मैं दवा नहीं देता ! मेरे पास ज्यादा रुपया तो है नहीं, इसलिये उल्टी दवा दे दी।

वैद्यने कहा—भाई, पीड़ा कैसे बढ़ गयी ? किसी आदमीको दवा जल्दी असर करती है, किसीको नहीं करती, यह तो अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार होता है, पर पीड़ा बढ़नेका तो कोई कारण ही नहीं है !

वह बोला—मैं तो भुक्तभोगी हूँ, मेरी पीड़ा तो बढ़ गयी !

इतनेमें दूसरा रोगी आया। वैद्यने उससे पूछा—कहो, तुम कैसे हो ? वह बोला—महाराज, बहुत आराम है। एक-दो दस्त लगे, पेट भी ठीक है और आँखें भी ठीक हैं। यह सुनते ही पहला रोगी बोला—देखो, यह पैसेवाला आदमी है, इसको तो बढ़िया दवा दे दी, मेरेको घटिया दे दी ! वैद्यने कहा—घटिया कैसे दे दी ? जो दवा उसको दी, वही तुमको भी दी। तुम्हारी पुड़िया कैसी थी ? रोगीने जेबसे चूर्णकी पुड़िया निकालकर वैद्यके सामने पटक दी और बोला—यह है वह पुड़िया। वैद्यने कहा—दूसरी पुड़िया ? वह बोला—दूसरी तो मैं काढ़ा बनाकर पी गया ! यह पुड़िया आँखमें डाली थी, दवा ज्यादा थी, इसलिये बच गयी। वैद्यने कहा कि इसको निकालो यहाँसे ! उल्टी दवा तो यह खुद लेता है और कहता है कि तुमने मेरी पीड़ा बढ़ा दी !

इसी तरह हम सब लोग रोगी हैं। हमारी आँखकी बीमारी क्या है ? वास्तविक बात सूझती नहीं है। खुद तो जानते नहीं,

दूसरेकी मानते नहीं। जो अधूरा जानते हैं, उसीको पूरा मान लेते हैं कि बस, यही ठीक है। पेटकी बीमारी क्या है ? पेट कभी भरता ही नहीं ! दरिद्रका भी पेट नहीं भरता और लखपति-करोड़पतिका भी पेट नहीं भरता। कितना ही मिल जाय तो भी कहते हैं कि क्या करें, काम नहीं चलता। इन दोनों रोगियोंके लिये भगवान्‌ने हमें दो पुड़िया दी हैं—प्रारब्ध और पुरुषार्थ। आँखकी बीमारीके लिये 'पुरुषार्थ' है और पेटकी बीमारीके लिये 'प्रारब्ध' है। पुरुषार्थ करेंगे, सत्संग-स्वाध्याय, विवेक-विचार करेंगे तो आँखका रोग दूर होगा और अपने कर्तव्यका पालन करते हुए प्रारब्धपर विश्वास करेंगे कि जो हमारे भाग्यमें लिखा है, वही मिलेगा* तो पेटका रोग दूर होगा।

प्रारब्ध शोक-चिन्ता मिटानेके लिये है, आलसी-अकर्मण्य बनानेके लिये नहीं। जैसे, बेटा बीमार हो तो अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसका भलीभाँति इलाज करते-करते अगर वह मर जाय तो मनमें इस बातको लेकर चिन्ता, शोक, दुःख नहीं होगा कि हमने अपनी तरफसे उसके इलाजमें कमी रखी। बेटा तो प्रारब्धके

---

* यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

'जो नहीं होनेवाला है, वह होगा नहीं और जो होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। चिन्तारूपी विषका नाश करनेवाली इस औषधका पान क्यों न किया जाय ?'

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करे मन ले श्रीरघुबीर॥

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥
(मानस, बाल० ५२।४)

अनुसार ही मरेगा, पर अपने पुरुषार्थमें कमी होगी तो चिन्ता, शोक, दुःख होगा कि हमने अपने कर्तव्यका ठीक पालन नहीं किया! इसलिये जो करनेमें सावधान और होनेमें प्रसन्न रहते हैं, उनकी आँखका रोग भी ठीक हो जाता है और पेटका रोग भी। परन्तु जो पुड़िया उलट देते हैं अर्थात् आँखके रोगके लिये प्रारब्ध और पेटके रोगके लिये पुरुषार्थ लगा देते हैं, उनके ये दोनों ही रोग बढ़ जाते हैं। ऐसे लोगोंसे सत्संग-स्वाध्याय, भजन-ध्यान करनेके लिये कहा जाय तो वे कहते हैं कि कैसे करें महाराज! हमारे तो भाग्यमें ही नहीं है। प्रारब्धसे मिलनेवाले धनके लिये रात-दिन पुरुषार्थमें लगे रहते हैं। सारा पुरुषार्थ पेटके लिये लगा देते हैं और आँखके लिये कुछ करते ही नहीं! भगवान्‌का नाम लेनेके लिये कहो तो कहते हैं कि नाम कैसे लें, मुखमें सौ मनका ताला लगा है! नाम लेना हमारे भाग्यमें लिखा ही नहीं है! भगवान्‌की ऐसी ही मरजी है, हम क्या करें? हमारा क्या दोष है?

अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिका प्राप्त होना 'प्रारब्ध'के अधीन है और प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करना 'पुरुषार्थ'के अधीन है। इसलिये कर्तव्य-पालन, सत्संग-स्वाध्याय, भजन-ध्यान आदि करनेमें तो मनुष्य स्वतन्त्र है, पर धन कमानेमें स्वतन्त्र नहीं है। मनुष्य यह नियम तो ले सकता है कि मैं रोजाना इतनी माला जप करूँगा, इतना स्वाध्याय करूँगा, पर यह नियम नहीं ले सकता कि मैं रोजाना इतने रुपये कमाऊँगा। कारण कि भजन-ध्यान आदि करना पुरुषार्थके अधीन है और रुपये कमाना प्रारब्धके अधीन है। परन्तु जहाँ पुरुषार्थ लगाना

चाहिये, वहाँ प्रारब्ध लगा दिया और जहाँ प्रारब्ध लगाना चाहिये, वहाँ पुरुषार्थ लगा दिया। इससे दोनों बीमारियाँ बढ़ गयीं। पेटकी बीमारी बढ़नेसे जीवन-निर्वाहका खर्चा बहुत बढ़ गया। पढ़ाई-लिखाईमें, खान-पानमें, स्वाद-शौकीनीमें, रहन-सहनमें खर्चा बढ़ गया और कहते हैं कि स्टैण्डर्ड ऊँचा होना चाहिये! सारा पुरुषार्थ स्टैण्डर्ड ऊँचा करनेमें, पेट भरनेमें लगा दिया और आँखसे कुछ दीखता ही नहीं है कि भगवान् क्या हैं? संसार क्या है? मैं कौन हूँ? मेरेको क्या करना है? 'रात-दिन' हाय पैसा! हाय पैसा! करते हैं। अगर 'हाय भगवन्! हाय भगवन्!' करें तो निहाल हो जायँ! जिस लगनसे धन कमाते हैं, उस लगनसे साधन करें तो कल्याण हो जाय! परन्तु साधककी यह दशा है कि नित्य नियम पूरा हुआ तो सोचते हैं कि आजकी आफत तो मिटी! माला पूरी हुई तो मानो जेलसे छूट गये! दूकानमें रोज सौ रुपये कमाते हैं और वे सौ रुपये अगर सुबह ही पैदा हो जायँ तो भी दूकान दिनभर खोलकर बैठे रहेंगे। पर जप पूरा हो जाय तो माला लपेटकर रख देंगे! यह क्या है? यह उल्टी पुड़िया ले ली। इसलिये जो मिला है, उसमें सन्तोष करें, जो नहीं मिला है, उसकी कामना न करें; अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करें, दूसरोंकी सेवा करें और भगवान्का भजन-स्मरण, सत्संग-स्वाध्याय करें तो आँखकी पीड़ा भी ठीक हो जायगी और पेटकी पीड़ा भी।

★